

तृतीय परिच्छेद

भगवान अजितनाथ

तीर्थकर नामकर्म सातिशय पुण्य प्रकृति है। यह प्रकृति उसी महाभाग के बधती है, जिसने किसी पूर्व जन्म में दर्शन विशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओं का निरन्तर चिन्तन किया हो, तदनुकूल अपना जीवन-व्यवहार बनाया हो और जिसके मन में सदाकाल यह भावना जागृत रहती हो—‘ससार में दुःख ही पूर्व भव दुःख है। प्रत्येक प्राणी यहाँ दुःखों से व्याकुल है। मैं इन प्राणियों का दुःख किस प्रकार दूर करूँ, जिससे ये सुखी हो सकें।’ सम्पूर्ण प्राणियों के सुख की निरन्तर कामना करने वाले महामना मानव को तीर्थकर प्रकृति का बध होता है अर्थात् आगामी काल में तीर्थकर बनता है। द्वितीय तीर्थकर अजितनाथ ने भी पहले एक जन्म में इसी प्रकार की भावना की थी। उसकी कथा इस प्रकार है —

वत्स देश में सुसीमा नाम की एक नगरी थी। वहाँ का नरेश विमलवाहन बड़ा तेजस्वी और गुणवान था। उसमें उत्साह शक्ति, मन्त्रशक्ति और फलशक्ति थी। वह उत्साह सिद्धि, मन्त्रसिद्धि और फलसिद्धि से युक्त था। वह पुत्र के समान अपनी प्रजा का पालन करता था। उसके पास भोगों के सभी साधन थे, किन्तु उसका मन कभी भोगों में आसक्त नहीं होता था। वह सदा जीवन की वास्तविकता के बारे में विचार किया करता—जिस जीवन के प्रति हमारी इतनी आसक्ति है, इतना अहंकार है, वह सीमित है। क्षण-प्रतिक्षण वह छोड़ रहा है और एक दिन वह समाप्त हो जायगा। इसलिए भोगों में इसका व्यय न करके आत्म-कल्याण के लिये इसका उपयोग करना चाहिए।

यह विचार कर उसने एक क्षण भी व्यर्थ नष्ट करना उचित नहीं समझा और अपने पुत्र को राज्य-शासन सौंपकर अनेक राजाओं के साथ उसने दैगम्बरी दीक्षा धारण कर ली। उसने ग्यारह अगो का ज्ञान प्राप्त कर लिया, दर्शन-विशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओं का निरन्तर चिन्तन किया। फलतः उसे तीर्थकर प्रकृति का बन्ध हो गया। आयु के अन्त में पंच परमेष्ठियों में मन स्थिर कर समाधिमरण कर वह विजय नामक अनुत्तर विमान में उत्पन्न हुआ।

भगवान के जन्म लेने से छह माह पूर्व से इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने साकेत नगरी के अधिपति इक्ष्वाकु वशी और काश्यपगोत्री राजा जितशत्रु के भवनों में रत्नवर्षा की। ज्येष्ठ कृष्ण अमावस्या को महाराज जितशत्रु की रानी विजयसेना के गर्भ में विमलवाहन का जीव स्वर्ग से आयु पूर्ण होने पर अवतरित भगवान अजितनाथ हुआ। उस रात्रि के अन्तिम प्रहर में महारानी ने सोलह शुभ स्वप्न देखे। स्वप्न दर्शन के का गर्भकल्याणक पश्चात् उन्होंने देखा कि मुख में एक मदोन्मत्त हाथी प्रवेश कर रहा है। प्रातः काल होने पर महारानी ने अपने पति के पास जाकर स्वप्नों की चर्चा की और उनका फल जानना चाहा। महाराज ने अपने अवधिज्ञान से जानकर हर्षपूर्वक बताया कि तुम्हारे गर्भ में तीर्थकर अवतीर्ण हुए हैं।

नौ माह पूर्ण होने पर माघ शुक्ल दशमी के दिन प्रजेश योग में तीर्थकर भगवान का जन्म हुआ। जन्म भगवान का जन्म होते ही इन्द्रो और देवों ने आकर भगवान का जन्म-कल्याणक मनाया और सुमेरु पर्वत पर महोत्सव ले जाकर पाण्डुक शिला पर उनका जन्माभिषेक किया। उनका वर्ण तप्त स्वर्ण के समान था। आपका चिन्ह हाथी था।

जब भगवान को जीवन दशा प्राप्त हुई तो उनका अनेक सुन्दरी राजकन्याओं के साथ विवाह हो गया और वे ससार के भोग भोगने लगे। राजा जितशत्रु अब वृद्ध हो चुके थे। उन्होंने अपने पुत्र को बुलाकर स्वयं मुनि-दीक्षा लेने की इच्छा प्रगट की और राज्य-भार उन्हें सौंपकर वन में जाकर दीक्षा लेली। अब भगवान अजितनाथ प्रजा का पालन करने लगे। प्रजा उनके न्याय और व्यवहार के कारण उन्हें प्राणों से भी अधिक प्रेम करती थी।

यद्यपि अजितनाथ भगवान राज्य कर रहे थे और स्त्रियों का भोग भी करते थे, किन्तु उनके मन में सदा विराग की ही भावना रहती थी। वे भोगों में कभी आसक्त नहीं हुए। वे अनासक्त वृत्ति से ही ससार के सब कार्य किया करते थे। एक दिन वे महल की छत पर बैठे हुए प्रकृति की शोभा देख रहे थे

भगवान का दीक्षा- कि उन्हें वादलों में एक क्षण को उल्का दिखाई पड़ी और तत्क्षण वह विलीन हो गई।

ग्रहण भगवान को इस चंचल और अस्थिर उल्का को देखकर बोध हुआ—सार के भोग और यह

लक्ष्मी भी इसी प्रकार चंचल और अस्थिर है। उन्होंने इन भोगों और इस विनश्वर लक्ष्मी का त्याग करने का तत्काल मन में सकल्प कर लिया। तभी लौकान्तिक देवों ने ब्रह्म स्वर्ग से आकर भगवान के सकल्प की सराहना की। भगवान ने अपने पुत्र अजितसेन का राज्याभिषेक किया और दीक्षा लेने चल दिए। इन्द्रों और देवों ने उनका निष्क्रमण महोत्सव मनाया। भगवान ने माघ शुक्ला ६ को रोहिणी नक्षत्र का उदय रहते सहेतुक वन में सप्तपर्ण वृक्ष के नीचे मायकाल के समय एक हजार राजाओं के साथ दीक्षा लेली। दीक्षा लेते ही उन्हें तत्काल मन पर्यय ज्ञान हो गया।

उन्होंने दूसरे दिन सावेन नगरी में ब्रह्मा नामक राजा के घर आहार लिया। वे फिर वनों में जाकर धौर तप करने लगे। बारह वर्ष तपस्या करने के पश्चात् उन्हें पीप शुक्ला एकादशी की सन्ध्या के समय रोहिणी नक्षत्र में भगवान को केवल लोकालोक प्रकाशक निर्मल केवलज्ञान प्राप्त हो गया। इन्द्रों और देवों ने आकर केवलज्ञान ज्ञान की पूजा की। समवसरण की रचना हुई और भगवान ने धर्म-चक्र-प्रवर्तन किया।

उनके परिकर में ६० गणधर, ३७५० पूर्वधारी, २१६०० शिक्षक, ६४०० अवधिज्ञानी, २०००० केवल भगवान का परिवार ज्ञानी, २०४०० विक्रिया ऋद्धिधारी, १२४५० मन पर्ययज्ञानी और १२४०० अनुत्तरवादी थे। कुल एक लाख मुनि, तीन लाख बीस हजार आर्यिकाये, तीन लाख श्रावक और पाच लाख श्रविकाये थी।

उन्होंने समस्त आर्य क्षेत्र में विहार किया। उनके उपदेशों को सुनकर असंख्य प्राणियों ने आत्म-कल्याण भगवान का निर्वाण किया। अन्त में सम्मेदाचल पर पहुँचकर एक माह का योग-निरोध करके समस्त अवशिष्ट कल्याणक कर्मों का क्षय कर दिया और चैत्र शुक्ला पचमी को प्रातः काल के समय भगवान को निर्वाण प्राप्त हो गया।

भगवान अजितनाथ भगवान ऋषभदेव के काफी समय पश्चात् उत्पन्न हुए थे। भगवान अजितनाथ को भगवान अजितनाथ जब केवलज्ञान उत्पन्न हुआ, तब तक भगवान ऋषभदेव का तीर्थ प्रचलित था। केवलज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् भगवान अजितनाथ का तीर्थ प्रवृत्त हुआ और वह तीसरे तीर्थकर सभवनाथ को केवलज्ञान प्राप्त होने तक चला। आपके समय में दूसरा रुद्र हुआ।

यक्ष-यक्षिणी—आपका सेवक महायक्ष और सेविका रोहिणी यक्षिणी थी।

सगर चक्रवर्ती

वत्स देश के पृथ्वी नगर का अधिपति जयसेन नामक राजा राज्य करता था। जयसेन उसकी रानी थी और रतिपेण एव धृतिपेण नामक उसके दो पुत्र थे। दोनों ही पुत्र पिता को प्राणों के समान प्रिय थे। दुर्भाग्यवश रतिपेण की मृत्यु हो गयी। इस असह्य आघात से जयसेन बहुत शोकाकुल हो गया। इस अवस्था में षट् खण्ड का वह धर्म की ओर अधिक ध्यान देने लगा, जिससे शोक का भार कम होकर शान्ति मिल सके। अधिपति एक दिन विचार करते करते उसे ससार के इस भयानक रूप को देख कर वैराग्य हो गया और सगर चक्रवर्ती उसने धृतिपेण नामक पुत्र को राज्य-भार सौंप कर अनेक राजाओं और महारत्न नामक अपने साले के साथ यशोधर मुनिराज के पास सकल सयम धारण कर लिया अर्थात् वह मुनि बन गया। जयसेन और महारत्न ने घोर तप किया। अन्त में समाधिमरण किया और वे दोनों अच्युत नामक देव हुए। दोनों के नाम क्रमशः महाबल और मणिकेतु हुए। स्वर्ग में भी दोनों में बड़ी प्रीति थी। उन दोनों देवों ने एक दिन प्रतिज्ञा की कि हम लोगों में जो पहले पृथ्वी पर अवतीर्ण होकर मनुष्य बनेगा, उसे दूसरा देव समझाने जावेगा और दीक्षा लेने की प्रेरणा करेगा।

महाबल देव अपनी आयु पूर्ण होने पर अयोध्या नगरी के इक्ष्वाकुवशी नरेश समुद्रविजय और रानी सुवाला के सगर नाम का पुत्र हुआ। एक दिन उसकी आयुधशाला में चक्र रत्न उत्पन्न हुआ। उसने चक्र रत्न की सहायता से भरत क्षेत्र के षट्खण्डों पर विजय प्राप्त की और वह चक्रवर्ती पद से विभूषित हुआ। चक्रवर्ती भरत के समान ही उसकी विभूति थी। उसके महा प्रतापी साठ हजार पुत्र हुए।

एक समय सिद्धिवन में चतुर्मुख नामक एक मुनिराज को केवलज्ञान प्रगट हुआ। उसके ज्ञान की पूजा करने के लिए इन्द्र और देव आये। मणिकेतु देव भी उनके साथ आया। वहाँ उसे अवधिज्ञान से ज्ञात हुआ कि मणिकेतु द्वारा हमारा मित्र महाबल यहाँ सगर नामक चक्रवर्ती हुआ और भोगों में आसक्त है। वह अपने सगर को समझाने मित्र के पास आया। वह सगर से मिला और अपना परिचय देकर तथा दोनों में हुई का यत्न प्रतिज्ञा का स्मरण दिलाकर उसे मुनि-दीक्षा लेने की प्रेरणा की। किन्तु सगर के ऊपर इसका कुछ प्रभाव नहीं पड़ा।

कुछ समय पश्चात् मणिकेतु देव चारणऋद्धिधारी मुनि का रूप धारण करके सगर के चैत्यालय में आकर ठहरा। सगर ने मुनिराज को देखकर उनकी पाद वन्दना की और उनके सुकुमार रूप को देखकर पूछा—‘आपने इस अल्प वय में क्यों मुनि-दीक्षा ली है? वह देव बोला—‘ससार में दुःख ही दुःख है। यहाँ सदा इष्ट-वियोग और अनिष्ट-सयोग होते रहते हैं। मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि यह सब कर्मों के कारण है। मैं तप के द्वारा इन कर्मों का ही विनाश करना चाहता हूँ। चक्रवर्ती ने सुना किन्तु पुत्रों के मोह के कारण उसने देव के इस कथन की भी उपेक्षा कर दी। वह देव पुनः निराश होकर वापिस चला गया।

किसी समय चक्रवर्ती राज्य सभा में सिंहासन पर विराजमान थे। तभी उसके साठ हजार पुत्र आये और पिता से कहने लगे ‘हम लोग क्षत्रिय-पुत्र हैं। निठल्ले बैठना हमें अच्छा नहीं लगता। आप हमें कोई कार्य दीजिये, अन्यथा भोजन भी नहीं करेंगे। चक्रवर्ती पुत्रों की बात सुनकर चिन्ता में पड़ गये। फिर विचार कर बोले—‘पुत्रों! भरत चक्रवर्ती ने कैलाश पर्वत पर रत्नमय चौबीस जिनालय बनवाये थे। तुम लोग उस पर्वत के चारों ओर गंगा

नदी की परिखा बनादो।' पुत्र यह काम पाकर बड़े प्रसन्न हुए और पिता की आज्ञानुसार दण्डरत्न लेकर उसके द्वारा उन मन्दिरो के चारो ओर परिखा खोद दी।

मणिकेतु देव अपने मित्र का हित-मपादन करने के सद्भाव में पुनः स्वर्ग में आया और जहाँ वे साठ हजार राजपुत्र परिखा खोद रहे थे, वहाँ भयकर नाग का रूप धारण कर वह पहुँचा। उसकी विषमयी फुकार के द्वारा सभी राजकुमार भग्न हो गये।

इसके पश्चात् मणिकेतु ब्राह्मण का रूप धारण कर चक्रवर्ती के पास पहुँचा और बड़े शोकपूरित स्वर में बोला—देव! आपके शासन की छाया में रहते हुए हमें कोई दुःख नहीं है। किन्तु असमय में ही यमराज मेरे एक मात्र पुत्र को मुझमें छीन ले गया है। यदि आप उसे जीवित नहीं करेंगे तो मेरा भी मरण निश्चित समझें।

चक्रवर्ती ने मान्त्वता देने हुए कहा—विप्रवर्य! जो ससार में आया है, यमराज उसे नहीं छोड़ता। तुम यदि यमराज को पराजित करना चाहते हो तो तुम घग्घार का मोह छोड़ कर मुनि-दीक्षा ले लो।

तब देव मन में प्रमत्त होता हुआ बोला—देव मर्त्य कहते हैं। यमराज को जीतने का एकमात्र उपाय है मुनि-दीक्षा। किन्तु देव मेरी एक बात सुन। आपके साठ हजार पुत्र कैलाश पर्वत पर परिखा खोदने गये थे, उन्हें यमराज हर ले गया। अब आपको भी यमराज को जीतने के लिए मुनि-दीक्षा ले लेनी चाहिये।

ब्राह्मण के ये वचन सुनते ही चक्रवर्ती मूर्छित होकर गिर पड़े। कुछ समय पश्चात् उपचार से वे सचेत हुए और विचार करने लगे—धिवकार है उम मोह को, जिसके कारण मैं अभी तक ससार का वास्तविक रूप नहीं समझ पाया।

उन्होंने तत्काल भगलि देश के राजा सिंहविक्रम की पुत्री विदर्भा के पुत्र भगीरथ को राज्य-भार सौंप दिया और दृढधर्मा केवली के समीप जाकर दीक्षा धारण कर ली। मणिकेतु देव ने कैलाश पर्वत पर जाकर उन राजकुमारों को सचेत किया और कहा—आपके पिता को किसी ने आपके मरण का दुस्सवाद सुना दिया था, जिसे सुनकर वे भगीरथ को राज्य देकर मुनि बन गये हैं।

ब्राह्मण वेपघारी देव के ये वचन सुनकर उन राजकुमारों को भी वैराग्य हो गया और वे भी मुनि बन गये और तप करने लगे। फिर वह देव सगर मुनि के पास गया और उनसे सब वृत्तान्त सुनाकर क्षमा मागी।

सगर तथा साठ हजार मुनियों ने धीरे तप किया और सम्मोदगिरि पर जाकर मुक्त हो गये। भगीरथ ने जब यह समाचार सुना तो उसे बड़ा वैराग्य हुआ और उसने वरदत्त पुत्र को राज्य देकर सगर का निर्वान कैलाश पर्वत पर शिवगुप्त मुनिराज से दीक्षा ले ली।

उन्होंने गंगा-तट पर प्रतिमा योग धारण करके धीरे तप किया। उनके तप की कीर्ति दिग्दिगन्तो में फैल तीर्थ के रूप में गंगा गयी। इन्द्र ने क्षीर सागर के जल से महामुनि भगीरथ के चरणों का अभिषेक किया। वह पवित्र जल बह कर गंगा में जा मिला। तभी से गंगा नदी को पवित्र तीर्थ मानने की मान्यता लोक में प्रचलित हो गई। भगीरथ गंगा नदी के तट पर उत्कृष्ट तप कर वही से निर्वान को प्राप्त हुए।

चतुर्थ परिच्छेद

भगवान् सम्भवनाथ

विदेह क्षेत्र में सीता नदी के उत्तरी तट पर कच्छ नामक देश था। वहाँ का राजा विमलवाहन था। वह राज्य के विपुल भोगों के मध्य रहकर भी अनासक्त जीवन व्यतीत करता था। एक दिन उसने भोगों पर विजय प्राप्त करने की इच्छा से राजपाट अपने पुत्र विमलकीर्ति को सौंपकर भगवान् स्वयंप्रभु तीर्थंकर के चरणों में मुनि-दीक्षा ले ली। उन्होंने ग्यारह अंगों का ज्ञान प्राप्त कर तीर्थंकर के चरण मूल में सोलह कारण भावनाएँ भाई। इससे उन्होंने तीर्थंकर प्रकृति का वन्दन कर लिया। आयु के अन्त में सन्यास मरण करके प्रथम^१ ग्रैवेयक के सुदर्शन विमान में अहमिन्द्र देव हुए। वहाँ भी उनकी भावना और आचरण धर्ममय था और सदा धार्मिक चर्चा में ही समय व्यतीत होता था। वहाँ का विपुल वैभव और भोग की सामग्री भी उन्हें लुभा न सकी।

श्रावस्ती नगरी के अधिपति दृढराज्य^२ बड़े प्रभावशाली नरेश थे। उनकी धर्म-प्राण महारानी का नाम सुषेणा था। सुषेणा माता के गर्भ में तीर्थंकर प्रभु अवतार लेने वाले हैं, इस बात की सूचना देने के लिये ही मानो गर्भावतरण से छह माह पूर्व से ही रत्नवृष्टि होना प्रारम्भ होगई। फाल्गुन शुक्ला अष्टमी के प्रातः काल माता सुषेणा ने सोलह स्वप्न देखे। इन स्वप्नों के बाद में उन्होंने स्वप्न में देखा कि एक विशालकाय हाथी उनके मुख में प्रवेश कर रहा है। उन्होंने पति देव से स्वप्नों की चर्चा की। महाराज हर्षित होकर स्वप्न-फल बताते हुए बोले—देवी! त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर भगवान् हमारे पुण्योदय से हमारे घर में जन्म लेने वाले हैं। महारानी को सुनकर बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ। उसी रात्रि को उपर्युक्त अहमिन्द्र का जीव उनके गर्भ में आया।

नौ माह व्यतीत होने पर कार्तिक शुक्ला पूर्णमासी^३ के दिन मृगशिरा नक्षत्र और सौम्य योग में मति-श्रुत-अवधि ज्ञानधारी पुत्र का जन्म हुआ। इन्द्रो और देवों ने भगवान् का जन्म-महोत्सव मनाया, उन्हें सुमेरु पर्वत पर ले जाकर क्षीरसागर के जल से उनका अभिषेक किया। फिर बाल प्रभु को श्रावस्ती के राज जन्म कल्याणक प्रासादों में लाकर सौधर्म इन्द्र ने उनका नाम 'संभव' रक्खा और वहाँ आनन्द नाटक करके देवों के साथ स्वर्ग चला गया। आपका धोड़े का चिन्ह था।

कुमार संभव दिव्य सुखों का भोग करते थे। दिव्य वस्त्रालंकार धारण करते थे। युवावस्था में पिता ने उनका राज्याभिषेक करके दीक्षा धारण कर ली। अब महाराज संभवकुमार प्रजा का पालन करने लगे। उनकी पत्नी अत्यन्त सुन्दर और सुशील थी। उन्हें मनवाञ्छित सुख प्राप्त थे।

१ श्वेताम्बर मान्यतानुसार सप्तम ग्रैवेयक

२ तिलोयपण्णत्ती के अनुसार पिता का नाम जितारि और माता का नाम सुसेना, श्वेताम्बर मान्यतानुसार पिता जितारि और माता का नाम सेनादेवी था।

३ उत्तर पुराण के अनुसार। तिलोयपण्णत्ती के अनुसार मगसिर शुक्ला १५।

श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार मगसिर शुक्ला १४।

प्रभु एक दिन अपने प्रासाद की छत पर बैठे हुए थे। सुहावना मौसम था। शीतल पवन वह रहा था। आकाश में मेघ आसमिचीनी करते डोल रहे थे। तभी यकायक मेघ न जाने, कहाँ विलीन होगये। भगवान के मन में विचार आया—जीवन और वैभव, भोग और ससार के सम्पूर्ण पदार्थ इन चंचल निष्क्रमण कल्याणक बादलों के समान क्षणभंगुर हैं। जीवन के अमोल क्षण इन भोगों में ही बीते जा रहे हैं, अब मुझे आत्म-कल्याण करना है और इस जन्म-मरण के पाश को सदा के लिये काटना है।

तभी पाँचवें स्वर्ग की आठों दिशाओं में रहने वाले लीकान्तिक देव आये और उन्होंने भगवान के वैराग्य की सराहना की और भगवान की स्तुति करके लौट गये।

भगवान ने अपने पुत्र को राज्य देकर दीक्षा के लिये देवों द्वारा लाई हुई मिथ्या पालकी में प्रस्थान किया और नगर के बाहर सहेतुक वन में शास्त्रमयी वृक्ष के नीचे एक हजार राजाओं के साथ दीक्षा धारण कर ली। दीक्षा लेते ही उन्हें मन पर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया। वे दीक्षा लेकर ध्यानास्थ हो गये। दूसरे दिन आहार के लिये वे श्रावस्ती नगरी में पधारे और गुरेन्द्रदत्त नामक राजा ने उन्हें पङ्गाह कर आहार दिया। भगवान के प्रताप से देवों ने पचाश्चर्य किये।

केवलज्ञान कल्याणक—भगवान सभवनाय चौदह वर्ष तक विभिन्न स्थानों पर विहार करके तप करते रहे। तदनन्तर वे दीक्षा वन में पहुँच और कार्तिक कृष्ण चतुर्थी के दिन मृगशिर नक्षत्र में चार घातिया कर्मों का नाश करके अनन्त चतुष्टय को प्राप्त हुए, चारों प्रकार के देवों ने आकर भगवान का केवल्य महोत्सव किया और केवलज्ञान की पूजा की। भगवान की प्रथम दिव्य ध्वनि समवसरण में इसी दिन खिरी।

भगवान के मुख्य गणधर का नाम चारुपेण था। उनके गणधरों की कुल संख्या १०५ थी। उनके सघ में २१५० पूर्वधारी, १२६३०० उपाध्याय, ६६०० अवधिज्ञानी, १५००० केवल ज्ञानी, १६८०० विक्रिया-ऋद्धिधारी, १२१५० मन पर्ययज्ञानी, १२००० वादी मुनि थे। इस प्रकार मुनियों की भगवान का परिकर कुल संख्या दो लाख थी, आर्थिकाये तीन लाख बीस हजार थी। उनके अनुयायी श्रावकों की संख्या तीन लाख तथा श्राविकायें पाँच लाख थी। भगवान ने आर्य देशों में विहार करके धर्म की देशना दी। अनेक जीवों ने उनका उपदेश सुनकर कल्याण किया।

निर्वाण महोत्सव—आयु का जब एक माह अवशिष्ट रह गया, तब भगवान ने एक हजार मुनियों के साथ सम्मेलनशिवर पर प्रतिमायोग धारण कर लिया और चैत्र शुक्ला पण्ठी को सम्पूर्ण अवशिष्ट अघातिया कर्मों का नाश करके निर्वाण प्राप्त किया। मनुष्यों और देवों ने वहाँ आकर भगवान का निर्वाण महोत्सव मनाया।

यक्ष यक्षिणी—आपका श्रीमुख यक्ष और प्रज्ञप्ति यक्षिणी थी।

श्रावस्ती—यह उत्तर प्रदेश में बलरामपुर-बहराइच रोड के किनारे है। बलरामपुर से बस, टैक्सी और जीप भी मिलती है। अयोध्या से गोडा होते हुए यह ६८ मील है।

प्राचीन भारत में कोशल जनपद था। कोशल के दक्षिणी भाग की राजधानी अयोध्या थी और उत्तर कोशल की राजधानी श्रावस्ती थी। महावीर के काल में यहाँ का राजा प्रसेनजित था। जब महावीर बाईस वर्ष के थे, उस समय यहाँ भयकर बाढ़ आई। अचिरावती (ताप्ती) के किनारे अनाथपिण्डद सेठ सुदत्त की अठारह करोड़ मुद्राये गड़ी थी। बाढ़ में वे सब बह गयीं।

यहाँ जितशत्रु नरेश के पुत्र मृगध्वज ने मुनि-दीक्षा ली और यही पर उनका निर्वाण हुआ। (हरिवंश पुराण २८।२६)

सेठ नागदत्त ने स्त्री-चरित्र से खिन्न होकर मुनि-व्रत धारण किये और यही से मुक्त हुए। (करकण्डु चरित)

इस प्रकार यह सिद्धक्षेत्र भी है।

यह उस समय व्यापारिक केन्द्र था और बड़ा समृद्ध नगर कहलाता था। इसकी यह समृद्धि १२-१३ वीं शताब्दी तक ही रही। महमूद गजनवी भारत के अनेक नगरों को लूटता और जलाता हुआ जब गजनी लौट गया

तो वह अपने पीछे अपने भानजे सैयद सालार मसऊद गाजी को बहुत बड़ी सेना देकर अवध-विजय के लिये छोड़ गया। वह अवध को जीतता हुआ वहराइच तक पहुँच गया। उस समय श्रावस्ती का राजा सुहलदेव अथवा सुहृदध्वज था। वह जैन था। जैन युद्ध में कभी पीछे नहीं हटे। सुहलदेव भी सेना सजाकर कौडियाला के मैदान में पहुँचा। गाजी और सुहलदेव का वहाँ डटकर मोर्चा हुआ। इस युद्ध में सन् १०३४ में सैयद सालार और उसकी सारी फौज सुहलदेव के हाथों मारी गई। जैन राजा जितने अहिंसक होते थे, उतने देशभक्त और वीर भी होते थे। किसी जैन राजा ने कभी देश के प्रति विश्वासघात किया हो अथवा युद्ध से मुह मोड़ कर भागा हो, ऐसा एक भी उदाहरण इतिहास में नहीं मिलता।

कभी यह नगरी अत्यन्त समृद्ध थी। किन्तु आतताइयों ने या प्रकृति ने इसे खण्डहर के रूप में परिवर्तित कर दिया। ये खण्डहर सहेट महेट नाम से मीलों में बिखरे पड़े हैं। यहाँ पुरातत्व विभाग की ओर से कई बार खुदाई हो चुकी है। फलतः यहाँ महत्वपूर्ण पुरातत्व सामग्री निकली है। इस सामग्री में जैन स्तूपों और मन्दिरों के अवशेष, मूर्तियाँ, ताअपत्र आदि भी निकले हैं। सहेट भाग में प्रायः बौद्ध सामग्री मिली है और महेट भाग में प्रायः जैन सामग्री। यह सामग्री ईसा पूर्व चौथी शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्दी तक की है। इमलिया दरवाजे के निकट भगवान सम्भवनाथ का जीर्ण शीर्ण मन्दिर खड़ा है। यह अब सोभनाथ का मन्दिर कहलाता है, जो सम्भवनाथ का ही विकृत रूप है। खुदाई के समय यहाँ अनेक जैन मूर्तियाँ मिली थी। इनके अतिरिक्त चैत्यवृक्ष, शासन देवताओं की मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई थी। ये सब प्रायः ११-१२ वीं शताब्दी की हैं। पुरातत्त्ववेत्ताओं की मान्यता है कि यहाँ आसपास अठारह जैन मन्दिर थे, जिनके अवशेषों पर अब भाडियाँ और पेड़ उग आये हैं। कुछ लोगों की मान्यता है कि चन्द्रप्रभ भगवान का जन्म स्थान यही पर था।

यहाँ बौद्धों के तीन नवीन मन्दिर वन चुके हैं और वैशाखी पूर्णिमा को उनका मेला लगता है, जिसमें अनेक देशों के बौद्ध आते हैं।

पंचम परिच्छेद

भगवान अभिनन्दननाथ

जम्बूद्वीप के विदेह क्षेत्र में सीता नदी के दक्षिण तट पर मगलावली नाम का एक देश था। उसमें रत्न-सचय नामक नगर में महाबल नाम का एक राजा था। वह कीर्ति, सरस्वती और लक्ष्मी तीनों का ही स्वामी था।

एक दिन उसने आत्म-कल्याण की भावना में राजपाट अपने पुत्र घनपाल को सौंपकर विमल-पूर्व भव वाहन नामक मुनिराज के पास समय धारण कर लिया। कुछ ही काल में वह ग्यारह अंगों का पाठी हो गया। उसने सोलह कारण भावनाओं का निरन्तर चिन्तन करते हुए उनको अपने जीवन में मूर्त रूप दिया। अतः उसे तीर्थंकर नामक पुण्य प्रकृति का बन्ध हो गया। आयु के अन्त में उसने समाधिमरण किया और विजय नामक पहले अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र हुआ।

अयोध्या नगरी का इक्ष्वाकु वंशी काश्यपगोत्री स्वयंवर नामक एक राजा था। उसकी पटरानी का नाम सिद्धार्थी था। भगवान के गर्भवितरण से छह माह पूर्व से देवों ने रत्न-वर्षा करना प्रारम्भ कर दिया। वैशाख शुक्ला पक्ष की पुनर्वसु नक्षत्र में महारानी को सोलह स्वप्न दिखाई दिए। स्वप्नों के पश्चात् उसने गर्भवितरण अपने मुख में प्रवेश करता हुआ हाथी देखा। उसी समय विजय विमान से वह अहमिन्द्र अपनी आयु पूर्ण करके उसके गर्भ में आया। पति से स्वप्नों का फल सुनकर महारानी अत्यन्त सन्तुष्ट हुई।

नौ माह पूर्ण होने पर माघ शुक्ला द्वादशी को अदिति योग में माता ने पुत्र उत्पन्न किया। इन्द्रो और देवों ने आकर सुमेरु पर्वत पर ले जाकर एक हजार आठ कलशों से उनका अभिषेक किया। इन्द्राणी ने बाल प्रभ का शृंगार किया। उनकी भुवनमोहिनी छवि को हजार नेत्र बनाकर सौधमैन्द्र देखता रहा और जन्म कल्याणक भक्ति में विह्वल होकर उसने ताडव नृत्य किया। फिर वहाँ से लौटकर देव भगवान को अयोध्या लाये। इन्द्र ने बाल प्रभु को माता-पिता को सौंपकर आनन्द मनाया और बालक का नाम 'अभिनन्दननाथ' रखकर सब देवों के साथ वह स्वर्ग को वापिस चला गया। उनका जन्म लाछन वन्दर था।

यौवन प्राप्त होने पर उनका विवाह पिता ने सुन्दर राजकन्याओं के साथ कर दिया और उनका राज्याभिषेक करके मुनि-दीक्षा लेली। महाराज अभिनन्दन नाथ राज्य-कार्य करने लगे। एक दिन वे आकाश में मेघों की शोभा देख रहे थे। मेघों में गन्धर्व नगर का आकार बना हुआ दीख पड़ा। थोड़ी देर में वह दीक्षा कल्याणक आकार नष्ट हो गया। मेघ भी विलीन हो गये। प्रकृति की इस चंचलता का प्रभाव भगवान के मन पर पड़ा। वे चिन्तन में डूब गये—ससार के भोगों की यही दशा है। ये शाश्वत नहीं हैं, क्षणिक हैं। इनमें सुख नहीं, सुख की कल्पना मात्र है। आत्मा का सुख ही शाश्वत है, वही वास्तविक है। मुझे उसी शाश्वत के लिये प्रयत्न करना है।

तभी लौकान्तिक देवों ने आकर भगवान की पूजा की और उनके सकल्प की सराहना की। देवों ने भगवान का निष्क्रमण कल्याणक मनाया। भगवान हस्तचित्रा नामक पालकी में विराजमान होकर नगर के बाहर अग्र उद्यान में पधारे। वहाँ उन्होंने माघ शुक्ला द्वादशी के दिन अपने जन्म-नक्षत्र के समय एक हजार राजाओं के साथ शाल्मली वक्ष के नीचे जिन-दीक्षा धारण कर ली और ध्यान लगाकर बैठ गये। दूसरे दिन वे पारणा के निमित्त

अयोध्या नगरी में पधारे। वहाँ इन्द्रदत्त ने आहार-दान देकर पुण्योपार्जन किया। देवों ने पचाश्चर्य किये।

भगवान ने अठारह वर्ष तक मौन रहकर विभिन्न स्थानों में विहार किया। वे नाना प्रकार के तप करते रहे। एक दिन भगवान दीक्षा-वन में असन वृक्ष के नीचे बेला का नियम लेकर ध्यानारूढ़ हो गये। तभी पौष शुक्ला चतुर्दशी के दिन शाम के समय पुनर्वसु नक्षत्र में उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया। तभी देवों केवलज्ञान कल्याणक और इन्द्रो ने आकर उनकी पूजा की। समवसरण की रचना हुई। उसमें गन्धकुटी में बैठकर भगवान की दिव्य देशना प्रगट हुई।

भगवान का परिकर—भगवान के परिकर में वज्रनाभि आदि १०३ गणधर थे। २५०० पूर्वधारी, २३००५० शिक्षक, ६८०० अवधिज्ञानी, १६००० केवलज्ञानी, १६००० विक्रियाऋद्धिधारी, ११६५० मन पर्यय-ज्ञानी और ११००० प्रचण्ड वादी थे। इस प्रकार कुल मुनियों की संख्या तीन लाख थी। इनके अतिरिक्त ३३०६०० अजिकाये, ३००००० श्रावक और ५००००० श्राविकाये थी।

दीर्घ काल तक भगवान ने समस्त देशों में विहार करके उपदेश दिया और असंख्य जीवों का कल्याण किया। जब आयु में एक माह शेष रह गया, तब वे सम्मेदशिखर पर पधारे। वे एक माह तक निर्वाण कल्याणक ध्यानारूढ़ रहे। अन्त में उन्होंने वैशाख शुक्ला षष्ठी के दिन प्रातःकाल के समय पुनर्वसु नक्षत्र में अनेक मुनियों के साथ मोक्ष प्राप्त किया। इन्द्रो और देवों ने आकर भगवान के निर्वाण कल्याणक की पूजा की।

भगवान सभवननाथ का तीर्थ भगवान अभिनन्दननाथ की केवलज्ञान-प्राप्ति तक रहा। जब भगवान अभिनन्दननाथ की प्रथम दिव्य ध्वनि खिरी, तबसे उनका तीर्थ प्रवृत्त हुआ। तीर्थकर का धर्म-चक्र-प्रवर्तन ही तीर्थ प्रवर्तन कहलाता है।

यक्ष-यक्षिणी—भगवान के सेवक यक्ष का नाम यक्षेश्वर और यक्षिणी का नाम वज्रभृत् खला था।

षष्ठ परिच्छेद

भगवान् सुमतिनाथ

धातकी खण्ड द्वीप मे पूर्व मेरु पर्वत से पूर्व की ओर स्थित विदेह क्षेत्र मे सीतानदी के उत्तर तट पर पुष्कलावती नामक एक देश था । उसमे पुण्डरीकिणी नाम की एक नगरी थी, जिसमे रतिपेण नाम का राजा राज्य करता था । उसने खूब धन अर्जित किया और खूब धर्म करता था । एक दिन उसने विचार किया—अर्थ और काम से तो सुख मिल नहीं सकता । सुख केवल धर्म से ही प्राप्त हो सकता है । अतः उसने अपने पुत्र अतिरथ को राज्य सौंपकर मुनि-दीक्षा लेली और भगवान् अभिनन्दन के चरण मूल मे उसने ग्यारह अंगों का ज्ञान प्राप्त किया तथा सोलह कारण भावनाओं का निरन्तर चिन्तन और व्यवहार करने से तीर्थंकर प्रकृति का वन्ध किया । आयु के अन्त मे समाधिमरण करके वैजयन्त विमान मे वह अहमिन्द्र बना ।

अयोध्या नगरी के राजा का नाम मेघरथ^१ था । वह भगवान् ऋषभदेव के वंश और गोत्र का था । उसकी पटरानी मगला थी । भगवान् के गर्भावतार से छह माह पहले से उनके प्रासाद मे रत्नवर्षा हुई जो पन्द्रह माह तक होती रही । एक दिन रानी ने श्रावण शुक्ला द्वितीया को मघा नक्षत्र मे रात्रि के अन्तिम प्रहर मे सोलह स्वप्न देखे । तदनन्तर उन्होंने अपने मुख मे एक विशालकाय हाथी प्रवेश करते हुए देखा । महाराज ने महारानी के मुख से स्वप्नों की बात सुनकर हर्षपूर्वक कहा—देवि ! तुम्हारी कुक्षि मे तीर्थंकर प्रभु ने अवतार लिया है । स्वप्न का फल सुनकर महारानी को बड़ी प्रसन्नता हुई । वह अहमिन्द्र ही उनके गर्भ मे आया था ।

नौ माह पूर्ण होने पर चैत्र शुक्ला एकादशी को मघा नक्षत्र मे महारानी मगला ने तीन ज्ञान के धारी त्रिभुवनपति को जन्म दिया । चारों निकाय के देव और इन्द्र वहाँ आये । उन्होंने भगवान् के दर्शन करके अपना जन्म सफल माना । वे बालक प्रभु को ऐरावत हाथी पर विराजमान करके सुमेरु पर्वत पर ले गये । जन्म कल्याणक वहाँ उन्होंने पाण्डुक शिला पर विराजमान करके क्षीर सागर के जल से भगवान् का अभिषेक किया । इन्द्र ने भगवान् की भक्ति करके उनका नाम सुमतिनाथ रखा । चक्रवाक पक्षी इनका चिन्ह था ।

भगवान् धीरे-धीरे दूज के चन्द्रमा की भाँति दबने लगे । वे रूप मे कामदेव को लज्जित करते थे । इस प्रकार क्रमशः वे यौवन अवस्था को प्राप्त हुए । पिता मेघरथ ने आत्मकल्याण के लिये अपने त्रिलोक के गुरु पुत्र को राज्य देकर मुनि-दीक्षा ले ली । भगवान् ने न्यायपूर्वक राज्य चलाया । अनेक स्त्रियों के साथ सासारिक भोग भोगे । वे इन्द्र द्वारा भेजे गये अश्विन वसन आदि का भोग करते थे । इस प्रकार राज्य भोग करते हुए बहुत समय बीत गया ।

एक दिन भगवान् बैठे हुए चिन्तन मे लीन थे । उन्होंने अपने पूर्व जन्मों का स्मरण किया—मैं पूर्वजन्म में

१. तिलोपपण्णत्ती के अनुसार मेघप्रभ नाम था ।

पच अनुत्तर विमानो मे से दूसरे वैजयन्त विमान मे अहमिन्द्र था । मैंने वहाँ सभी प्रकार की सुख सामग्री का भोग किया किन्तु मेरे दुःखो का अन्त नहीं आया और यह मनुष्य भव पाकर और तीन ज्ञान का दीक्षा-कल्याणक धारी होने पर भी मैं इन्द्रिय-भोगो मे फसा रहा । फिर साधारण जन इन्द्रियो के भोगो को ही सर्वस्व मान बैठता है तो इसमे आश्चर्य क्या है । मुझे अहितकर इन्द्रिय-भोगो को छोड़कर आत्म-हित करना चाहिए ।

भगवान के मन मे वैराग्य भावना को जानकर सारस्वत आदि आठ प्रकार के लोकान्तिक देवो ने भगवान के विचारो की सराहना की । देवो ने उन्हे पालकी मे बैठकर नगर के बाहर सहेतुक वन मे पहुँचाया । वहाँ भगवान ने एक हजार राजाओ के साथ सयम धारण कर लिया । सयम के प्रभाव से उन्हे उसी समय मन पर्ययज्ञान हो गया । दूसरे दिन वे चर्या के लिए सौमनस नामक नगर मे गये । वहाँ पदम राजा ने पडगाह कर भगवान को आहार दिया ।

केवलज्ञान कल्याणक—भगवान बीस वर्ष तक भीन रहकर तपस्या करते रहे । तदनन्तर उसी सहेतुक वन मे प्रियगु वृक्ष के नीचे उन्होने दो दिन का उपवास लेकर योग-निरोध किया । फलत चैत्र शुक्ला एकादशी के दिन सन्ध्या समय भगवान को केवलज्ञान प्राप्त हुआ । देवो ने आकर भगवान के ज्ञान कल्याणक की पूजा की ।

भगवान का परिवार—भगवान के अमर आदि ११६ गणधर थे । इनके अतिरिक्त २४०० पूर्वधारी, २५४३५० शिक्षक, ११००० अवधिज्ञानी, १३००० केवलज्ञानी, ८४०० विक्रिया ऋद्धिधारी, १०४०० मनः पर्ययज्ञानी, १०४५० वादी ये । इस प्रकार कुल मुनियो की सख्या ३२०००० थी । अनन्तमती आदि ३३०००० अजिकाये थी । ३००००० श्रावक और ५००००० श्राविकाये उनकी भक्त थी ।

मोक्ष कल्याणक—भगवान ने विभिन्न देशो मे विहार करके और उपदेश देकर अनेक जीवो का कल्याण किया । जब उनकी आयु एक माह शेष रह गई, तब वे सम्मेदगिरि पर पहुँचे । उन्होने विहार करना और उपदेश देना वन्द कर दिया और एक हजार मुनियो के साथ प्रतिमा योग धारण कर लिया । और चैत्र शुक्ला एकादशी को मघा नक्षत्र मे शाम के समय निर्वाण प्राप्त किया । इन्द्रो और देवो ने आकर उनके निर्वाण कल्याणक की पूजा की ।

यक्ष-यक्षिणी—भगवान सुमतिनाथ के यक्ष का नाम तुवर और यक्षिणी का नाम पुरुषदत्ता था । ॥

सप्तम परिच्छेद

भगवान पद्मप्रभ

घातकी राष्ट्र द्वीप के पूर्व तिबेट क्षेत्र में गीता नदी के दक्षिण तट पर वन्य देश था। उसमें गुर्मा नामक एक नगर था। उसके अधिपति महाराज अपराजित थे। उनके राज्य में प्रजा गन्धर्वा और गन्धर्वा थी। उन्होंने बहुत समय तक सामारिक भाग भोगे। एक दिन उनके मन में विचार आया कि नगर में समस्त पर्याय क्षणभंगुर है। गुरु पर्यायों द्वारा भोगे जाते हैं। पर्याय नष्ट होने पर वह गुरु भी नष्ट हो जाता है। शत्रु नगर के सम्पूर्ण गुरु क्षणभंगुर है। यह विचार कर उन्होंने अपने पुत्र मुनि को राज्य देकर पिहितासव जिनेंद्र के पास जाकर जिन-दीक्षा ले ली। उनके नगरों में उन्होंने ग्यारह अंगों का अध्ययन किया, और पौंड्र कारण भावनाओं का चिन्तन करके तीर्थंकर प्रकृति का बन्धन कर लिया। आयु के अन्त में समाधिग्रण करके ऊर्ध्वगैधक के प्रीतिकर विमान में अहमिन्द्र हुए।

कौशाम्बी नगरी में इक्ष्वाकुवंशी काश्यप गोधी धरुण नामक राजा राज्य करते थे। उनकी महारानी का नाम सुसीमा था। जब उपर्युक्त अहमिन्द्र का जीव उनके गर्भ में आने वाला था, तब उसके पुण्य प्रभाव में गर्भावतरण में छह माह पूर्व में देवों ने महाराज धरुण के नगर में रत्न-वृष्टि करना आरम्भ किया जो भगवान के जन्म लेने तक बराबर होती रही। माघ कृष्ण पक्ष के दिन ब्राह्म मुहूर्त में, जब चित्रा नक्षत्र और चन्द्रमा का योग हो रहा था, महारानी ने सोलह स्वप्न देखाकर भुव में एक हाथी को प्रवेश करते देखा। पति ने स्वप्नों का फल जानकर वह बड़ी हर्षित हुई।

गर्भ-काल पूरा होने पर कार्तिक कृष्ण पक्षोदनी के दिन त्वष्ट्र योग में लाल कमल की कलिका के समान कान्ति वाले पुत्र को महारानी सुसीमा ने जन्म दिया। पुत्र अमाधारण था, लोकोत्तर कान्ति थी, उसका अद्भुत प्रभाव था। इस पुत्र के उत्पन्न होते ही क्षणभर के लिये तीनों लोकों के जीवों को जन्म कल्याणक सुख का अनुभव हुआ। उसी समय सौधर्म इन्द्र अन्य इन्द्रों और देवों के साथ आया और बाल भगवान को लेकर मुमुरु पर्वत पर पहुँचा। वहाँ क्षीरसागर के जल से उनका अभिषेक किया और उनका नाम पद्मप्रभ रखा। फिर वापिस लाकर माता को सौंपकर आनन्दमग्न होकर नृत्य किया। इनका चिन्ह कमल था।

जब उनकी आयु का चतुर्थांश व्यतीत हो गया, तब उन्हें राज्य-शासन प्राप्त हुआ। उनके राज्य में कोई दुखी नहीं था। कोई दरिद्र नहीं था। सब निर्भय और निश्चिन्त थे। सभी लोग सम्पन्न थे।

एक दिन उनके हाथी की मृत्यु हो गई। घटना साधारण थी, किन्तु इस घटना की उनके मन पर जो प्रतिक्रिया हुई, वह भिन्न थी। उन्होंने अद्विज्ञान में हाथी के पिछले भव पर विचार किया और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि जिसका जन्म हुआ है, उसकी मृत्यु निश्चित है। किन्तु इस जन्म-मरण की

दीक्षा-कल्याणक शृंखला का अन्त क्यों नहीं होता? प्रत्येक जीव सुख चाहता है। किन्तु मृत्यु के पश्चात् जन्म न हो, इसका प्रयत्न विरल ही करते हैं। जो मृत्यु को जीत लेते हैं, उनका पुन जन्म नहीं होता। मैं अब मृत्युजय बनने का प्रयत्न करूँगा और अनादिकाल की इस जन्म-मरण की शृंखला का उच्छेद करूँगा। वे ये विचार कर ही रहे थे, तभी लौकान्तिक देवों ने आकर भगवान की स्तुति की, उनके सकल्प की

सराहना की तथा निवेदन किया—प्रभो ! ससार के प्राणी अज्ञान और मोह में भटक रहे हैं। अब आपकी तीर्थ-प्रवृत्ति का समय आ पहुँचा है। आप उन जीवों को मार्ग दिखलाइये।

भगवान् निवृत्ति नामक पालकी में आरूढ़ होकर पभीसा गिरि के मनोहर वन में पहुँचे और वहाँ वेला का नियम लेकर कार्तिक कृष्णा त्रयोदशी को सन्ध्या समय चित्रा नक्षत्र में दीक्षा ले ली। उनके साथ में एक हजार राजाओं ने भी मुनि-दीक्षा ले ली। भगवान् को समय ग्रहण करते ही मन पर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया।

दूसरे दिन भगवान् वर्धमान नगर में चर्या के लिये पहुँचे। वहाँ राजा सोमदत्त ने उन्हें आहार-दान देकर अक्षय पुण्य उपार्जित किया। देवों ने भगवान् के आहार-दान के उपलक्ष्य में पचाश्चर्य किये।

भगवान् छह माह तक मीन धारण करके विविध प्रकार के तप करते रहे।

केवलज्ञान कल्याणक—उन्होंने चैत्र शुक्ला पूर्णमासी के दिन अपराह्न में चित्रा नक्षत्र में शिरीष वृक्ष के नीचे चार घातिया कर्मों का क्षय कर दिया। तभी उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। इन्द्रो और देवों ने आकर भगवान् की पूजा की। कुवेर ने समवसरण की रचना की। भगवान् ने पभीसा गिरि पर प्रथम उपदेश देकर तीर्थ-प्रवर्तन किया।

उनके सघ में वज्रचामर आदि ११० गणधर थे। इनका अतिरिक्त २३०० पूर्वघारी, २६६००० शिक्षक, भगवान् का सघ १०००० अर्वाधज्ञानी, १२००० केवलज्ञानी, १६८०० विद्विया ऋद्धिधारी, १०३०० मन.पर्यय ज्ञानी, तथा ६६०० श्रेष्ठ वादी थे। इस प्रकार कुल ३२०००० मुनि उनके सघ में थे। मुनियों के अतिरिक्त रात्रिषेणा आदि ४२०००० अर्जिकाये थी। उनके श्रावकों की सख्या ३००००० तथा श्राविकाओं की सख्या ५००००० थी।

भगवान् बहुत समय तक विहार करके जीवों को सन्मार्ग का उपदेश देकर उन्हें सन्मार्ग में लगाते रहे। जब निर्वाण कल्याणक आयु में एक माह शेष रह गया, तब भगवान् सम्मैद शिखर पहुँचे और उन्होंने योग-निरोध कर प्रतिमा योग धारण कर लिया। अन्त में फाल्गुन कृष्णा चतुर्थी की संध्या को चित्रा नक्षत्र में जन्म-मरण की परम्परा सर्वदा के लिए नष्ट कर दी और वे ससार से मुक्त हो गये। उनके साथ एक हजार मुनि भी मुक्ति पधारे। देवों और इन्द्रो ने आकर निर्वाण महोत्सव मनाया।

यक्ष-यक्षिणी—भगवान् पद्मप्रभ के यक्ष का नाम कुसुम और यक्षिणी का नाम मनोवेगा है।

कौशाम्बी नगरी का वर्तमान नाम कोसम है। कोसम नामक दो गाव पास पास हैं—कोसम इनाम और कौशाम्बी कोसम खिराज। इस गाव का एक नाम कौशाम्बी गढ भी है। यहाँ एक पुराना किला यमुना के तट पर बना हुआ है जो प्रायः घराशायी होकर खण्डहर बन चुका है। किन्तु कहीं-कहीं पर अभी तक दीवालें और बुर्ज बने हुए हैं। इसके अवशेष लगभग चार मील में बिखरे हुए हैं।

कोसम इलाहाबाद से लगभग इकत्तीस मील दूर है। इलाहाबाद से यहाँ के लिए अकिलसराय होती हुई बस जाती है। बस कोसम के रैस्ट हाउस तक जाती है। वहाँ से मन्दिर कच्चे मार्ग से लगभग डेढ़ मील है। रैस्ट हाउस के पास एक प्राचीन कुआ है जिसका सम्बन्ध अर्जुन के पौत्र परीक्षित और प्रसिद्ध वैद्य धन्वन्तरि से जोड़ा जाता है।

कौशाम्बी का मन्दिर छोटा ही है। इसमें दो गर्भगृह हैं, जिनमें दो सर्वतोभद्रिका प्रतिमायें तथा भगवान् पद्मप्रभु के चरण चिन्ह विराजमान हैं। मन्दिर के बाहर धर्मशाला बनी हुई है। मन्दिर के चारों ओर प्राचीन नगर के अवशेष बिखरे पड़े हैं। मन्दिर के पीछे एक पाषाण-स्तम्भ है, जिसे अशोक निर्मित कहा जाता है।

यहाँ प्रयाग विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग की ओर से कई वर्ष तक खुदाई हुई थी, जिसमें बहुमूल्य पुरातत्व सामग्री मिली है। चार अखण्डित जैन मूर्तियाँ भी मिली हैं। यहाँ मृण्मूर्तियाँ और मनके बहुत बड़ी सख्या में मिले हैं। यह सब सामग्री प्रयाग संग्रहालय में सुरक्षित है। खुदाई के फलस्वरूप अजीबक सम्प्रदाय का विहार भी निकला है। कहा जाता है, इसमें गोशालक के अनुयायी पाँच हजार साधु रहते थे।

कौशाम्बी भारत की प्राचीन नगरियों में मानी जाती है तथा यह वत्स देश की राजधानी थी। यहाँ अनेक पौराणिक और ऐतिहासिक घटनायें हुई हैं। भगवान् नेमिनाथ ने जब जरत्कुमार के हाथों से नारायण कृष्ण की मृत्यु और द्वैपायन ऋषि के शाप से द्वारका के भस्म होने की भविष्यवाणी की तो दुर्निवार भवितव्य को टालने के लिये

जरत्कुमार और द्वैपायन ऋषि दोनों ही द्वारका से दूर चले गये। एक बार वलभद्र वलराम और नारायण कृष्ण भ्रमण करते हुए इसी वन में आये। यहाँ आकर नारायण को प्यास लगी। वलभद्र जल की तलाश में दूर चले गये, नारायण को नींद आ गई और एक वृक्ष के नीचे सो गये। भील का वेष बनाये हुए जरत्कुमार धूमने हुए उधर ही आ निकला। उसने नारायण के चमकते हुए अंगूठे को दूर से हिरण की आख समझा। उसने उसको लक्ष्य करके बाण सधान किया। बाण नारायण के लगा, जिससे उनकी मृत्यु हो गई। जब वलभद्र जल लेकर वहाँ आये तो उन्हें अपने प्रिय अनुज की यह दशा देखकर भारी सन्ताप हुआ। वे प्रेम में इतने अधीर हो गये कि वे छह माह तक मृत शरीर को कन्धे से लगाये शोक सतप्त होकर धूमते रहे। अन्त में मागीतुंगी पर जाकर देव द्वारा समझाने पर उस देह का सस्कार किया और वही दीक्षा लेकर तप करने लगे।

भगवान महावीर के काल में वैशाली गणतन्त्र के अधिपति चेटक की छोटी पुत्री चन्दनवाला अपहृत होकर यहाँ बिकने आई और वात्सल्यवश एक धर्मात्मा सेठ ने उसे खरीद लिया। जब सेठ व्यापार के कार्य से बाहर गये हुए थे, तब सेठानी ने सापत्य के झूठे सदेह में पड़कर चन्दना को जजीरो से बाँध दिया, उसके बाल काट दिये और खाने को सूप में बाकले दे दिये। तभी भगवान महावीर आहार के निमित्त उधर पधारे और चन्दना ने भक्तिवश वे ही बाकले भगवान को आहार में दिये। तीर्थंकर के पुण्य प्रभाव से चन्दना के बन्धन कट गये। देवताओं ने रत्न-वर्षा की। भगवान आहार लेकर चले गये। कुछ समय पश्चात् चन्दना ने भगवान महावीर के पास दीक्षा ले ली और उनके आर्यिका-सघ की मुख्य गणिनी बनी।

इसी काल में कौशाम्बी पर उदयन शासन कर रहा था, जो अर्जुन की अठारहवीं पीढ़ी में कहलाता है। उदयन के कई विवाह हुए। उज्जयिनी नरेश चण्डप्रद्योत की पुत्री वासवदत्ता के साथ उसका प्रेम-विवाह हुआ, जिसको लेकर संस्कृत भाषा में अनेक काव्यों की रचना हुई है। उदयन जितना वीर था, उतना कला-मर्मज्ञ भी था। वह अपनी मज्जुघोषा वीणा पर जब उ गली चलाता था तो उसकी ध्वनि पर पशु-पक्षी तक खिंचे चले आते थे। वह महावीर भगवान का भक्त था और अन्त में जैन विधि से उसने सन्यास मरण किया।

उसके काल में कौशाम्बी धन धान्य से अत्यन्त समृद्ध था और व्यापारिक केन्द्र था। जल और स्थल मार्गों द्वारा इसका व्यापार सुदूर देशों से होता था। इतिहासकार इस काल की कौशाम्बी को भारत का माचेस्टर कहते हैं।

काल ने इस समृद्ध नगरी को एक दिन खण्डहर बना दिया।

पभौसा का दूसरा नाम प्रभासगिरि भी था। प्राचीन काल में यह कौशाम्बी नगरी का वन था। इसी में भगवान पद्मप्रभु ने दीक्षा ली थी और इसी वन में उन्हें केवल-ज्ञान हुआ था। यह जमुना के किनारे अवस्थित है। यह एक छोटी सी पहाड़ी है। यह कौशाम्बी से जमुना के रास्ते छह मील दूर है। यहाँ जाने के लिये कोसम से नाव मिलती है।

प्राचीन काल में यह जैन धर्म का महत्वपूर्ण केन्द्र रहा है। यहाँ प्राचीन जैन मन्दिर पहाड़ी के ऊपर था। कहते हैं, उसके सामने एक मानस्तम्भ भी था। वही भट्टारक ललितकीर्ति की गद्दी थी। पहाड़ी की तलहटी में कई दिगम्बर जैन मन्दिर थे। कहते हैं, सवत् १८२५ में बिजली गिर जाने से मन्दिर आदि को काफी क्षति हुई थी। फिर भट्टारक वाले स्थान पर सवत् १८८१ में पंच कल्याणक प्रतिष्ठापूर्वक पद्मप्रभ की प्रतिमा विराजमान की गई। इस सम्बन्ध में जो शिलालेख मिलता है, उसका आशय निम्न प्रकार है—

सवत् १८८१ मिति मार्गशीर्ष शुक्ला अष्टमी शुक्रवार को भट्टारक श्री जगतकीर्ति उनके पट्टधर भट्टारक श्री ललितकीर्ति जी उनके आम्नाय में गोयल गोत्री प्रयाग नगरवासी साधु श्री रावजीमल के लघुभ्राता फेरुमल उनके पुत्र साधु श्री माणिकचन्द्र उनके पुत्र साधु श्री हीरामल ने कौशाम्बी नगर के बाहर प्रभास पर्वत पर जो पद्मप्रभ भगवान का दीक्षा कल्याणक क्षेत्र है, जिन विम्ब प्रतिष्ठा कराई—अग्नेज बहादुर के राज्य में।

किन्तु इसके बाद फिर यहाँ एक भयानक दुर्घटना होगई। वीर सवत् २४५७ भाद्रपद कृष्णा ९ को रात्रि में इस मन्दिर पर पहाड़ के तीन वजनी टुकड़े गिर पड़े। इससे मन्दिर और मानस्तम्भ दोनों नष्ट हो गये और जो

भवन यहाँ पर थे, वे भी नष्ट हो गये। किन्तु इसे एक चमत्कार ही कहना चाहिए कि प्रतिमाये सुरक्षित रही।

अब पहाड़ पर एक कमरे में प्रतिमायें विराजमान हैं तथा पहाड़ की तलहटी में एक कम्पाउण्ड के भीतर घर्मशाला (जीर्ण शीर्ण दशा में) तथा कुआ है। घर्मशाला के ऊपर एक छोटा मन्दिर है, जिसमें प्राचीन प्रतिमाये हैं। घर्मशाला के एक कमरे में इधर उधर खेतों आदि में मिली कुछ प्राचीन खण्डित अखण्डित प्रतिमाये रक्खो हुई हैं।

पहाड़ के ऊपर-मन्दिर से काफी ऊँचाई पर, एक शिला में चार खड्गासन प्रतिमायें उकेरी हुई हैं जो सिद्ध-प्रतिमा कही जाती हैं। दाईं ओर ऊपर को देखने पर एक गुफा दिखाई पड़ती है। प्राचीन काल में यह गुफा दिगम्बर जैन साधुओं के ध्यान और तपस्या के काम में आती थी। इस गुफा में शिलालेख भी उपलब्ध हुए हैं। इसके अतिरिक्त यहाँ आयागपट्ट भी मिला था जो अभिलिखित है। अभिलेख के अनुसार राजा शिवमित्र के १२ वें सवत् में शिवनन्दि की स्त्री शिष्या स्थविरा बलदासा के कहने से शिवपालित ने अहन्तो की पूजा के लिए यह आयागपट्ट^१ स्थापित किया।

गुफा के बाहर जो लेख पढा गया है, उसका आशय यह है

‘काश्यपी अहन्तो के सवत्सर १० में आषाढसेन ने यह गुफा बनवाई, यह गोपाली और वैहदरी का पुत्र था व गोपाली के पुत्र वहसतिमित्र राजा का मामा था। यह काश्यप गोत्र महावीर स्वामी का था।

गुफा के भीतर भी एक अभिलेख है, जिसका भाव इस प्रकार है—

‘अहिच्छत्रा के राजा शौनकायन के पुत्र वगपाल, उसकी रानी त्रिवेणी, उसके पुत्र भागवत, उसकी स्त्री वैहदरी, उसके पुत्र आषाढसेन ने बनवाई।

उपर्युक्त आषाढसेन ई० सन् के प्रारम्भ में उत्तर पांचाल का राजा था। उक्त लेख में आषाढसेन को वहसतिमित्र (वृहस्पतिमित्र) का मामा बतलाया है।

यहाँ शु ग काल में स्थापत्य और मूर्तिकला की बड़ी उन्नति हुई थी। जिन शु गकालीन शासकों के सिक्के इस प्रदेश में मिले हैं, उनके नाम अग्निमित्र, भानुमित्र, भद्रघोष, जेठमित्र, भूमिमित्र आदि हैं।

शु गो के बाद यहाँ मधवशीय स्थानीय शासकों का अधिकार रहा। इन राजाओं के लेख और सिक्के यहाँ बड़ी संख्या में उपलब्ध हुए हैं।

शु गवश की प्रधान शाखा का अन्त ई० पू० १०० के लगभग हो गया। किन्तु उसकी अन्य कई शाखाये शासन करती रही। उनके केन्द्र थे अहिच्छत्रा, विदिशा, मथुरा, अयोध्या और पम्भौसा।

मथुरा में अनेक मित्रवशीय राजाओं के सिक्के मिले हैं, जैसे गोमित्र, ब्रह्ममित्र, दृढमित्र, सूर्यमित्र, विष्णुमित्र।

१. सिद्धम् राज्ञो शिवमित्रस्य सवच्छरे १०-२ खम

थाविरस बलदास स निवर्ततन सा ए शिवनददिस अत्तेवासिस

शिवपालितन आयागपट्टो थापयति अरहत पूजायै

अष्टम परिच्छेद

भगवान् सुपाश्वनाथ

धानकी खण्ड द्वीप में सीता नदी के उत्तर तट पर मुकुच्छ नाम का देश था। उसके क्षेमपुर नगर में नन्दिपेण नामक राजा राज्य करता था। वह बड़ा नीतिनिपुण, प्रतापी और न्यायवान राजा था। जब भोग भोगते हुए उसे बहुत समय बीत गया तो एक दिन वह भोगों से विरक्त हो गया। उसने अपने पुत्र **पूर्व भव** धनपति को राजसिंहासन पर प्रतिष्ठित करके अनेक राजाओं के साथ अर्हन्नन्दन मुनि से दीक्षा ले ली। फिर ग्यारह अंग का धारी होकर दर्शन विशुद्धि आदि सोलह भावनाओं द्वारा तीर्थङ्कर नाम कर्म का बन्ध किया और आयु के अन्त में सन्यास मरग कर मध्यम ग्रैवेयक के सुभद्र विमान में अहमिन्द्र हुआ।

काशी देश में वाराणसी नामक एक नगरी थी। उसमें सुप्रतिष्ठ महाराज राज्य करते थे। वे इक्ष्वा-कृवशी थे। उनकी महारानी पृथ्वीपेणा थी। उनके आगम में देवों ने गर्भावतरण से पूर्व छह माह तक रत्नवर्षा की। महारानी ने भाद्रपद शुक्ला पण्ठी को विशाखा नक्षत्र में रात्रि के अन्तिम प्रहर में **गर्भ कल्याणक** सोलह शुभ स्वप्न देखे। उसके बाद उन्होंने मुख में एक हाथी को प्रवेश करते हुए देखा। उसी समय वह अहमिन्द्र अपनी आयु पूर्ण कर महारानी के गर्भ में आया। पति के मुख से स्वप्नों का फल जानकर रानी बड़ी हर्षित हुई। देवों ने गर्भावस्था के पूरे समय उनके आगम में रत्न वृष्टि की और भगवान् का गर्भ कल्याणक मनाया।

ज्येष्ठ शुक्ला द्वादशी के दिन अग्निमित्र नामक शुभयोग में महारानी ने तीनों लोकों के गुरु महान् पुत्र को जन्म दिया। इन्द्रो और देवों ने सुमेरु पर्वत के शिखर पर उनका जन्माभिषेक किया, **जन्म कल्याणक** सबने भगवान् के चरणों में अपने मस्तक भुकाये और उनका नाम सौधर्मन्द्र ने 'सुपाश्व' रखा। उनका चिन्ह स्वस्तिक था। शरीर का वर्ण हरित था।

जब कुमार काल व्यतीत हो गया तो पिता ने उनका राज्याभिषेक कर दिया। इन्द्र उनके मनोरजन के लिये नाना प्रकार के उपाय करता था। उन्हें सभी प्रकार का सुख प्राप्त था। सुख के साधन तो सभी थे, किन्तु तीर्थङ्करो को आठ वर्ष की आयु में देशसंयम हो जाता है। इसलिए भगवान् की वृत्ति संयमित थी। उनके तीन ज्ञान थे।

एक दिन भगवान् को ऋतु-परिवर्तन देखकर मन में विचार उठा-संसार की यही दशा है। सब क्षण-स्थायी है। राज्यलक्ष्मी भी इसी प्रकार एक दिन नष्ट हो जाने वाली है। मैं अब तक व्यर्थ ही इनके मोह में अटका रहा। मैंने आत्म-कल्याण में व्यर्थ ही विलम्ब किया। लौकान्तिक देवों ने आकर **दीक्षा-कल्याणक** भगवान् की स्तुति की। भगवान् अपने पुत्र को राज्य सौंपकर देवों द्वारा उठाई हुई मनो-गति नामक पालकी में चढ़ कर सहेतुक वन में जा पहुँचे और वहाँ ज्येष्ठ शुक्ला द्वादशी को सन्ध्या समय विशाखा नक्षत्र में वेला का नियम लेकर एक हजार राजाओं के साथ संयम ग्रहण कर लिया। उसी समय उन्हें मन-पर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया।

दूसरे दिन चर्या के लिए वे सोमखेट नगर में पहुँचे। वहाँ महेन्द्रदत्त राजा ने आहार देकर महान पुण्य-लाभ किया।

भगवान नौ वर्ष तक तप करते रहे। तदनन्तर उसी सहेतुक वन में दो दिन के उपवास का नियम लेकर शिरीष वृक्ष के नीचे ध्यानारूढ़ हो गये और फाल्गुन शुक्ला सप्तमी को विशाखा नक्षत्र केवलज्ञान कल्याणक में उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। देवो और इन्द्रो ने आकर भगवान के केवलज्ञान की पूजा की। वही पर समवसरण में भगवान की प्रथम देशना हुई।

उनके बल आदि ६५ गणधर, मीनार्या आदि ३३०४०० अजिकाये, २०३० पूर्वज्ञान के धारी, २४६२० शिक्षक, ६००० अवधिज्ञानी, ११०० केवलज्ञानी, १५३०० विक्रिया ऋद्धि के धारक, ६१५० भगवान का परिकर मन पर्ययज्ञान के धारी और ८६०० वादी थे। कुल ३००००० श्रावक और ५००००० श्राविकाये थी।

भगवान बहुत काल तक पृथिवी पर विहार करके भव्य जीवों को कल्याण-मार्ग का उपदेश देते रहे। जब उनकी आयु में एक माह शेष रह गया, तब वे सम्मैद शिखर पर पहुँचे। उन्होंने प्रतिमा-निर्वाण कल्याणक योग धारण कर लिया और फाल्गुन कृष्णा सप्तमी को विशाखा नक्षत्र में एक हजार मुनियों के साथ निर्वाण प्राप्त किया। देवो ने भगवान का निर्वाण कल्याणक मनाया।

यक्ष-यक्षिणी—भगवान के सेवक यक्ष का नाम परनन्दी और यक्षिणी का नाम काली है।

मथुरा के ककाली टीले पर एक स्तूप के ध्वसावशेष प्राप्त हुए हैं। आचार्य जिनप्रभसूरि ने इस स्तूप के सम्बन्ध में 'विविध तीर्थकल्प' में लिखा है कि इस स्तूप को कुवेरा देवी ने सुपाश्वर्नाथ के काल में सोने का बनाया था और उस पर सुपाश्वर्नाथ की मूर्ति स्थापित की थी। फिर पार्श्वनाथ के काल में इसे ईंटों से ढक दिया। आठवीं शताब्दी में वप्पभट्ट सूरि ने इसका जीर्णोद्धार किया था। सुपाश्वर्नाथ कालीन स्तूप किन्तु सोमदेव सूरि ने 'यशस्तिलक चम्पू ६।१७-१८ में एव हरिषेण कथाकोष में वज्र कुमार की कथा के अन्तर्गत इस स्तूप को वज्रकुमार के निमित्त विद्याधरो द्वारा निर्मित बताया है। आचार्य सोमदेव ने तो उस स्तूप के दर्शन भी किये थे और उसे 'देवनिर्मित लिखा है। इस स्तूप का जीर्णोद्धार साहू टोडर ने भी किया था, इस प्रकार की सूचना कवि राजमल्ल ने 'जम्बूस्वामी चरित्र' में दी है। उन्होंने भी इस स्तूप के दर्शन किये थे। उस समय वहाँ पाँच सौ चौदह स्तूप थे।

कुषाणकाल का (सन् ७६) का एक आयागपट्ट मिला है, उसमें भी इस स्तूप को देव निर्मित लिखा है। सर विलेण्ट स्मिथ ने इसे भारत की ज्ञात इमारतों में सर्व प्राचीन लिखा है।

इस साक्ष्य से यह प्रगट होता है कि ईस्वी सन् से हजारों वर्ष पूर्व भगवान सुपाश्वर्नाथ की मान्यता जनता में प्रचलित हो चुकी थी और जनता उन्हें अपना आराध्य देव मानती थी।

सुपाश्वर्नाथ इक्ष्वाकुवशी थे। किन्तु उनकी मूर्तियों के ऊपर सर्प-फण-मण्डल मिलता है। पार्श्वनाथ को सर्पफणावलीयुक्त मूर्तियों से सुपाश्वर्नाथ की मूर्तियों में भिन्नता प्रकट करने के लिये सुपाश्वर्नाथ के ऊपर पंच फणावली बनाई जाती है और पार्श्वनाथ के ऊपर सात फणावली। किसी किसी मूर्ति में सुपाश्वर्नाथ की पार्श्वनाथ के ऊपर नौ और ग्यारह फणावली भी मिलती हैं। कुछ मूर्तियाँ सहस्र फणावली वाली भी उपलब्ध होती हैं। पार्श्वनाथ के ऊपर सर्प-फण-मण्डल का तो एक तर्कसंगत कारण रहा है। वह है सगम देव द्वारा उपसर्ग करने पर धरणेन्द्र द्वारा भगवान के ऊपर सर्प-फण का छत्र लगाना। इसके अतिरिक्त उनका चिन्ह भी सर्प है। किन्तु सुपाश्वर्नाथ के ऊपर

सर्प-फण-मण्डल किस कारण से बनाया जाता है, इसका कारण खोजने की आवश्यकता है। दिगम्बर शास्त्रों में इस बात का कोई युक्तियुक्त कारण हमारे देखने में नहीं आया। हाँ, श्वेताम्बर परम्परामान्य आचार्य हेमचन्द्र द्वारा विरचित 'त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित' में लिखा है कि जब भगवान सुपाश्वर् को केवलज्ञान हो गया और जब इन्द्र द्वारा विरचित समवसरण में वे सिंहासन पर विराजे, तब इन्द्र ने उनके मस्तक पर सर्प-फण का छत्र लगाया

था। आचार्य ने इस प्रकार करने का कोई कारण तो नहीं दिया। सभव है, इन्द्र ने जो छत्र लगाया था, उसका आकार सर्प-फण-मण्डल जैसा रहा हो।

इस सम्बन्ध में हमारी विनम्र मान्यता है कि सुपार्श्वनाथ और पार्श्वनाथ दोनों ही वाराणसी में उत्पन्न हुए थे। पार्श्वनाथ का प्रभाव अपने काल में पूर्व और पूर्वोत्तर भारत में अत्यधिक था। यही कारण है कि उनकी मूर्तियाँ अन्य तीर्थंकरों की अपेक्षा अधिक मिलती हैं। उनके इस प्रभाव के कारण और दोनों का नाम प्रायः समान होने के कारण पार्श्वनाथ-मूर्तियों की अनुकृति पर सुपार्श्वनाथ की भी मूर्तियाँ बनने लगी और उनके ऊपर भी सर्प-फण बनाये जाने लगे। इसके सिवाय दूसरा कोई युक्तियुक्त उत्तर बन नहीं सकता।

भगवान् सुपार्श्वनाथ की लोक-प्रसिद्धि के कारण स्वस्तिक का मगल चिन्ह भी लोकविश्रुत हो गया। अतः स्वस्तिक का लोक-प्रचलन इतिहासातीत काल से रहा है। मोहन जो दड़ो, लायल, रोपड़ आदि के प्राचीनतम

पुरातत्त्व में कई मुद्राओं में स्वस्तिक अंकित पाया गया है। एक मुद्रा मोहन जो दड़ो में ऐसी भी उपलब्ध हुई है, जिसमें स्वस्तिक अंकित है और उसके आगे एक हाथी नतमस्तक खड़ा है। भारतीय पुरातत्त्ववेत्ता अभी तक इस प्रतीक का रहस्योद्घाटन करने में असमर्थ रहे हैं।

किन्तु जैन प्रतीक-योजना के छात्र को इसके समाधान में कुछ भी कठिनाई नहीं होगी। प्रतीकात्मक रूप से स्वस्तिक सुपार्श्वनाथ का चिन्ह है और हाथी उनके यक्ष मातंग^१ के वाहन का द्योतक है। सुपार्श्वनाथ की द्योतक एक मुद्रा और मिली है। एक दिगम्बर योगी पद्मासन मुद्रा में विराजमान है। उसके दोनों ओर दो सर्प बने हुए हैं और दो व्यक्ति भक्ति में वीणा-वादन कर रहे हैं। निश्चय ही यह योगी सुपार्श्वनाथ हैं और सर्प उनके चिन्ह हैं।

खण्डगिरि-उदयगिरि की रानी गुफा में स्वस्तिक का चिन्ह है। यह गुफा ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी की है। एक गुफा में सर्प का चिन्ह अंकित है। मथुरा के ककाली टीला से प्राप्त कुपाणकालीन आयागपट्ट में भी स्वस्तिक या नन्द्यावर्त बना हुआ है। कौशाम्बी, राजगृह, श्रावस्ती आदि में ऐसे शिलापट्ट मिले हैं, जिन पर स्वस्तिक और सर्प बने हुए हैं। जैन मन्दिरों में सर्वत्र स्वस्तिक मगल चिन्ह के रूप में सदा से प्रयुक्त होता आया है। जैनो की पूजा-विधि में स्वस्तिक एक आवश्यक अंग है। विधान, प्रतिष्ठा, मगल कार्यों आदि में स्वस्तिक की अनिवार्यता को स्वीकार किया गया है।

स्वस्तिक में बड़ा रहस्य निहित है। यह चतुर्गति रूप ससार का द्योतक है। इसके ऊपर तीन विन्दु रत्न-त्रय के और अर्धचन्द्र रत्नत्रय द्वारा प्राप्त मुक्ति (सिद्धिशिला) का प्रतीक है।

धीरे धीरे स्वस्तिक की ख्याति से प्रभावित होकर ससार की सभी सभ्यताओं और अधिकांश धर्मों ने इसे अपना लिया।

काशी देश में वाराणसी नगरी थी। काशी जनपद की यह राजधानी थी। यहाँ के वर्तमान भदौनी घाट को भगवान् सुपार्श्वनाथ का जन्म-स्थान माना जाता है। स्याद्वाद विद्यालय के ऊपर वाराणसी मन्दिर बना हुआ है। कहते हैं, भगवान् का जन्म-कल्याणक यही हुआ था। कुछ लोग मानते हैं कि छेदीलाल जी का जैन मन्दिर—जो इस मन्दिर के निकट है—भगवान् का वास्तविक जन्म-स्थान है। यहाँ भगवान् के प्राचीन चरण-चिन्ह भी हैं।

काशी में अनेक पौराणिक और ऐतिहासिक घटनाएँ हुई हैं। कर्म युग के प्रारम्भ में महाराज अकपन यहाँ के राजा थे। उन्होंने अपनी पुत्री सुलोचना का स्वयंवर यही किया था। यह कर्मभूमि का प्रथम स्वयंवर था।

भगवान् पार्श्वनाथ का जन्म यही हुआ था और उन्होंने यही पर कमठ तपस्वी के अविवेकपूर्ण तप की निस्सारता बताते हुए जलते हुए सर्प-युगल को णमोकार मन्त्र सुनाया था, जिसके प्रभाव से वे नागकुमार जाति के इन्द्र-इन्द्राणी धरणेन्द्र और पद्मावती बने थे और यही भगवान् पार्श्वनाथ का उपदेश सुनकर अश्वसेन और वामा देवी ने दीक्षा ली थी।

कुछ विद्वानों का अभिमत है कि स्वामी समन्तभद्र भस्मक व्याधि के काल में यहाँ के शिवालय में रहे थे और जब उनके छद्म रूप का रहस्य फूट गया, तब राजा के द्वारा वाध्य किये जाने पर उन्होंने शिवपिण्डी के समक्ष जिनेन्द्रदेव की प्रतिमा की कल्पना करके स्वयम्भू स्तोत्र का पाठ करना आरम्भ किया और जब वे चन्द्रप्रभ की स्तुति करने लगे, तभी शिवपिण्डी फटकर उसके बीच में से भगवान चन्द्रप्रभ की दिव्य मूर्ति प्रगट हुई। उन्होंने उसे नमस्कार किया। इस घटना की सत्यता बताने वाला फटे महादेव का मन्दिर अब तक विद्यमान है। कुछ वर्ष पूर्व तक इस मन्दिर का नाम समन्तभद्रेश्वर मन्दिर था। यह पहले बहुत बड़ा मन्दिर था। किन्तु जब यहाँ से सड़क निकली, तब सड़क मार्ग में बाधक इसका बहुत सा भाग गिरा दिया गया था।

इस प्रकार यहाँ अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाये घटित हुई हैं।

भगवान सुपार्श्वनाथ के नाग चिन्ह का प्रभाव यहाँ व्यापक रूप से पडा और जनता नाग-पूजा करने लगी।

यहाँ यक्ष-पूजा का भी बहुत प्रचलन रहा है। लगता है, इन दोनों पूजाओं का सम्बन्ध काशी में नाग पूजा सुपार्श्वनाथ से था।

पुरातत्त्व—यहाँ राजघाट से उत्खनन में महत्त्वपूर्ण पुरातत्त्व सामग्री मिली है, जिसमें कुषाण और गुप्त युग की अनेक जैन मूर्तियाँ भी हैं जो यहाँ के भारत कला भवन में सुरक्षित हैं।

नवम परिच्छेद

भगवान् चन्द्रप्रभ

भगवान् चन्द्रप्रभ का जीव एक जन्म में श्रीपुर के राजा श्रीपेण और रानी श्रीकान्ता का पुत्र श्रीवर्मा हुआ। एक दिन उन्नापात देगकर उमें भोगों में विरक्ति हो गई और उमने श्रीप्रभ जिनेन्द्र के निकट मुनि-दीक्षा ले ली। आयु पूर्ण होने पर प्रथम स्वर्ग में देव हुआ। उम देव का जीव आयु समाप्त होने पर धातकी पूर्व भव गण्ट की अयोध्या के राजा अजितजय और अजितमेना का अजितसेन नामक पुत्र हुआ। राज्य प्राप्त होने पर उमकी आयुधशाला में चक्ररत्न उत्पन्न हुआ। उसने दिग्विजय करके चक्रवर्ती पद प्राप्त किया। यद्यपि पुण्योदय में भोग की सम्पूर्ण सामग्री उमके निकट थी किन्तु उसकी भोगों में तनिक भी आसक्ति नहीं थी। वह बड़ा न्यायपरायण और धर्मनिष्ठ था। लोग उमें राजपि कहते थे। पुण्य कर्म के उदय से उमें चौदह रत्न और नौ निधिया प्राप्त थी। भोजन, भोजन, शय्या, मेना, गवारी, आसन, निधि रत्न, नगर और नाट्य इन दशविध भोगों का भोग करता था। एक दिन चक्रवर्ती ने अरिन्दम नामक मुनि को आहार-दान किया। फलस्वरूप रत्न-वर्षा आदि पचास्य प्राप्त किये। दूसरे दिन वह गुणप्रभ जिनेन्द्र की वन्दना करने गया और उनका उपदेश सुनकर बहुत में राजाओं के साथ मयम धारण कर लिया। अन्न में समाधिमरण करके वह सोलहवें स्वर्ग में अच्युतेन्द्र हुआ।

आयु पूर्ण होने पर अच्युतेन्द्र धातकी गण्ट के रत्नसचयपुर के नरेश कनकप्रभ और उसकी रानी कनक माला का पद्मनाभ नामक पुत्र हुआ। यौवन अवस्था में राज्य प्राप्त कर मुखपूर्वक रहने लगा। फिर एक दिन उसे वैराग्य हो गया और दीक्षा ले ली। वह मुनि अवस्था में चारों आराधनाओं का आराधन करने लगा। उसने ग्यारह अगो का पारगामी बन कर सोलह कारण भावनाओं का चिंतन किया और तीर्थकर नाम कर्म का बन्ध किया। वह नाना प्रकार के तपो द्वारा कर्मों का क्षय करता रहा। अन्त में समाधिमरण करके वह वैजयन्त नामक अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र हुआ। तैतीस सागर की आयु उसने प्राप्त की।

भरतक्षेत्र में चन्द्रपुर नामक नगर के अधिपति इक्ष्वाकुवशी काश्यप गोत्री महासेन राजा थे। उनकी रानी का नाम लक्ष्मणा था। उनके प्रासाद के प्रागण में छह माह तक देवों ने रत्न-वर्षा की। श्री ह्री आदि देवियाँ महारानी की सेवा करती थी। देवोपनीत वस्त्र, माला, लेप तथा शय्या आदि सुखों का भोग करती थी।

गर्भ कल्याणक उन्होंने चैत्र कृष्ण पचमी को पिछली रात्रि में सोलह स्वप्न देखे। प्रातःकाल होने पर उन्होंने वस्त्राभरण धारण किये और सिंहासन पर आसीन अपने पति के निकट जाकर उन्होंने उनसे अपने स्वप्नों की चर्चा की। महाराज ने अवधिज्ञान से स्वप्नों का फल जानकर रानी से कहा—देवी! तुम्हारे गर्भ में तीर्थकर प्रभु पधारें हैं। फल सुनकर रानी अत्यन्त हर्षित हुई। देवों ने गर्भ के नौ माह तक रत्न-वर्षा की। श्री, ह्री, धृति, कीर्ति बुद्धि और लक्ष्मी देवियाँ उनकी कान्ति, लज्जा धैर्य, कीर्ति, बुद्धि और सौभाग्य सम्पत्ति को सदा बढ़ाती रहती थी तथा माता का मनोरजन नाना प्रकार से किया करती थी।

गर्भ-काल व्यतीत होने पर रानी ने पौष कृष्ण एकादशी को शक्र योग में देवपूजित, अलौकिक प्रभा के धारक पुत्र को जन्म दिया। उसी समय इन्द्र और देव आये। सौधर्मेन्द्र ने अपनी शची के द्वारा बाल प्रभू को मगाकर, सुमेरु

जन्म-कल्याणक पर्वत पर लेजाकर क्षीरसागर के जल से उनका अभिषेक किया। उन्हें दिव्य वस्त्रालंकारों से विभूषित किया, तीन लोक के राज्य की कण्ठी बांधी और उनकी रूप छटा को हजार नैत्र बना

कर विमुग्ध भाव से उन्हें निहारता रहा। उनके उत्पन्न होते ही कुवलय समूह विकसित हो गया था। अतः इन्द्र ने उनका नाम 'चन्द्रप्रभ' रक्खा। फिर इन्द्र ने भगवान के समक्ष आनन्द नामक भक्तिपूर्ण नाटक और नृत्य किया। फिर लाकर उन्हें माता-पिता को सौंपकर कुबेर को आज्ञा दी—'तुम भोगोपभोग की योग्य वस्तुओं के द्वारा भगवान की सेवा करो' और फिर वह देवों के साथ स्वर्ग को चला गया। भगवान का लक्षण चन्द्रमा है।

भगवान ज्यो-ज्यो बढ़ने लगे, उनका रूप, कान्ति, लावण्य सभी कुछ बढ़ने लगे, वे प्रियदर्शन थे। लोग उनके दर्शनो के लिए व्याकुल रहते थे और दर्शन मिलने पर उन्हें अपूर्व तृप्ति अनुभव होती थी।

माँ र अवस्था बीतने पर उनके पिता ने राज्याभिषेक कर दिया। उनकी स्त्रियाँ उनकी आज्ञानुवर्ती थी, समस्त राजा उनके वशवर्ती थे और भृत्यगण, पुरजन और परिजन उनके सकेतानुवर्ती थे।

साम्राज्य-सम्पदा का भोग करते हुए जब उन्हें काफी समय हो गया, तब एक दिन वे अपने शृंगार-कोष्ठक में दर्पण में अपना मुख देख रहे थे। उन्हें अन्तःस्फुरणा हुई—एक दिन था जब यह मुख मधुर कान्ति से उमगता था।

वे कौमार्य के दिन थे। उन दिनों कितना भोलापन था इसके ऊपर। कौमार्य बीता, किशोरा-

भगवान को स्वयं स्फूर्त प्रेरणा वस्था आई, कान्ति और ओज फूटे पड़ते थे। यौवन आया तो ससार के भोगों की ओर आकर्षण सग में लाया। अब आयु निरन्तर छीजती जा रहो है। आयु का चतुर्थ पाद आ गया है, तीन पाद बीत चुके हैं। आयु का इतना लम्बा काल मैंने केवल सासारिकता में ही खो दिये।

अपना हित नहीं किया। अब तक मैंने ससार की सम्पदा का भोग किया, किन्तु अब मुझे आत्मिक सम्पदा का भोग करना है। ससार का यह रूप, यह सम्पदा क्षणिक है, अस्थिर है। किन्तु आत्मा का रूप अलौकिक है, आत्मा की सपदा अनन्त अक्षय है। मैं अब इसी का पुरुषार्थ जगाऊँगा।

इस प्रकार जब चन्द्रप्रभ अपने आत्मा को जागृत कर रहे थे, तभी लौकान्तिक देव आये और भगवान की स्तुति करते हुए उनके विचारों की सराहना की। भगवान अपने पुत्र वरचन्द्र को राज्य-भार सौंप कर देवों द्वारा

दीक्षा कल्याणक लाई हुई विमला नामक पालकी में नगर के बाहर सर्वतुल्य वन में पधारे। वहाँ उन्होंने दो दिन के उपवास का नियम लेकर पौष कृष्णा एकादशी के दिन अनुराधा नक्षत्र में एक हजार राजाओं के साथ जैनेन्द्री दीक्षा धारण कर ली। दीक्षा लेते ही उन्हें मनःपयज्ञान उत्पन्न हो गया।

दो दिन बाद वे नलिन नामक नगर में आहार के निमित्त पधारे। वहाँ सोमदत्त राजा ने उन्हें नवधा भक्तिपूर्वक आहार-दान दिया। इससे प्रभावित होकर देवों ने रत्नवृष्टि आदि पचाश्चर्य किये।

भगवान मुनिजनोचित पंच महाव्रत, पंच समिति, पंचेन्द्रिय नियम, दशधर्म आदि में सावधान रहते हुए कर्म शत्रुओं से युद्ध करने में सलग्न रहने लगे। उन्हें घातिया कर्मों को निर्मूल करने में तीन माह लग गये। अन्त में दीक्षा

केवलज्ञान कल्याणक वन में नाग वृक्ष के नीचे वेला का नियम लेकर प्रभु ध्यानलीन हो गये और फाल्गुन कृष्णा सप्तमी को सायंकाल अनुराधा नक्षत्र में वे अधकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण रूप तीन परिणामों के संयोग से क्षपक श्रेणी पर आरोहण करके प्रथम शुक्ल ध्यान के बल से

मोहनीय कर्म का नाश करने में सफल हो गये। फिर बारहवें गुणस्थान के अन्त में द्वितीय शुक्ल ध्यान के प्रभाव से शेष तीन घातिया कर्मों का भी क्षय कर दिया। जीव के उपयोग गुण का घात करने वाले घातिया कर्मों का नाश होते ही वे संयोग केवली हो गये। उनकी आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य से सम्पन्न हो गई। उन्हें परमावगाढ सम्यग्दर्शन, यथाख्यात चारित्र्य, क्षायिक ज्ञान आदि पांच लब्धियों की उपलब्धि हो गई। अब वे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी बन गए।

इन्द्रो और देवों ने आकर भगवान के केवलज्ञान की पूजा की। उन्होंने समवसरण की रचना की और उसमें भगवान की प्रथम दिव्यध्वनि खिरी। भगवान के धर्म-चक्र का प्रवर्तन हुआ।

उनके दत्त आदि तिरानवे गणधर थे। दो हजार पूर्वधारी थे। आठ हजार अवधिज्ञानी, दो लाख चार सौ शिक्षक, दस हजार केवलज्ञानी, चौदह हजार विप्रिया ऋद्धिधारी, आठ हजार मनःपर्ययज्ञानी और चार हजार भगवान का परिवार छह सौ वादी थे। इस प्रकार सब मुनियों की संख्या ढाई लाख थी। वरुणा आदि तीन लाख

अस्सी हजार अजिकाये थी। तीन लाख श्रावक और पाच लाख श्रविकाये थी।

भगवान चन्द्रप्रभ समस्त देशों में विहार करते हुए सम्मेद शिखर पर पहुँचे और वहाँ एक हजार मुनियों के साथ एक माह तक प्रतिमा योग धारण करके आरुद्ध हो गये। अन्त में फाल्गुन कृष्ण सप्तमी के दिन ज्येष्ठा नक्षत्र भोक्ष कल्याणक में सायंकाल के समय योग-निरोध कर समस्त अघातिया कर्मों का नाश करके परम पद निर्वाण को प्राप्त हुए। उसी समय देवों ने आकर भगवान का निर्वाण कल्याणक मनाया।

यक्ष-यक्षिणी—भगवान चन्द्रप्रभ के सेवक विजय यक्ष और ज्वालामालिनी यक्षिणी थे।

भगवान चन्द्रप्रभ की जन्मनगरी चन्द्रपुरी है जो वाराणसी से आगे कादीपुर स्टेशन से ५ किलोमीटर दूर गंगा के तट पर अवस्थित है। टैंक्सी और मोटर के द्वारा वाराणसी से गोरखपुर रोड पर २४ किलोमीटर है। मुख्य चन्द्रपुरी सड़क से २ किलोमीटर कच्चा मार्ग है। यह सिंहपुरी (सारनाथ) से १७ किलोमीटर है। इस गाव का वर्तमान नाम चन्द्रावती है।

यहाँ दिगम्बर जैनो का जो प्राचीन मन्दिर था, उस पर श्वेताम्बरो ने अधिकार कर लिया था। तब आरा निवासी लाला प्रभुदास ने गंगा के किनारे सन् १९१३ में नवीन मन्दिर का निर्माण कराया तथा मूर्तियों की पंच कल्याणक प्रतिष्ठा वा० देवकुमार जी ने कराई। मन्दिर में भगवान चन्द्रप्रभ की श्वेत वर्ण १४ इंच अवगाहना वाली प्रतिमा विराजमान है। इसके आगे पार्श्वनाथ की श्याम वर्ण प्रतिमा विराजमान है। मन्दिर दूसरी मजिल पर है। मन्दिर के चारों ओर धर्मशाला बनी हुई है।

यहाँ चैत्र कृष्ण पक्षमी को वार्षिक मेला भरता है।

दशम परिच्छेद

भगवान पुष्पदन्त

पुष्करार्ध द्वीप, पूर्व विदेह क्षेत्र, सीता नदी, उसके उत्तरी तट पर पुष्कलावती देश था। उसमें पुण्डरीकिणी नगरी थी। वहाँ का राजा महापद्म था। वह बड़ा पराक्रमी था। उसने शत्रुदल को अपने वश में कर लिया था। जनता पर उसका इतना प्रभाव था कि वह जो नई परम्परा डालता था, जनता में वह रिवाज बन जाती थी। जनता उसके गुणों पर मुग्ध थी। वह बड़ा पुण्यात्मा था। उसे कभी किसी वस्तु का अभाव नहीं खटकता था।

एक दिन वनपाल ने आकर राजा को समाचार दिया कि वन में महान् विभूतिसम्पन्न भूतहित नामक जिनराज विराजमान हैं। समाचार सुनते ही वह पुरजनों-परिजनो के साथ वन में गया। वहाँ जाकर उसने जिनराज की वन्दना की, पूजा की और जाकर अपने स्थान पर बैठ गया। उनका कल्याणकारी उपदेश सुनकर राजा को ससार के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो गया। सत्यज्ञान होने पर क्या कोई ससार के भोगों और ममता के बन्धनों में बना रह सकता है। उसने तत्काल अपने पुत्र धनद को राज्य-भार सौंप दिया और अनेक राजाओं के साथ वह मुनि बन गया। ऋषय वह द्वादशांग का वेत्ता हो गया और वह सोलह कारण भावनाओं का चिन्तन करने लगा जिससे उसे तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध हो गया। अन्त में उसने समाधिमरण ले लिया। आयु पूर्ण होने पर वह प्राणत स्वर्ग का इन्द्र हुआ।

भरत क्षेत्र में काकन्दी नगरी के अधिपति महाराज सुग्रीव थे जो इक्ष्वाकु वंशी काश्यप गोत्री थे। उनकी पटरानी का नाम जयरामा था। भगवान जब गर्भ में आये, उससे छह माह पूर्व से गर्भकाल के नौ माह पर्यन्त देवों ने रत्नवृष्टि की। एक दिन महारानी सो रही थी। उस दिन फाल्गुन कृष्ण नौमी और मूल नक्षत्र था। ब्राह्म मुहूर्त का समय था। उस समय महारानी ने सोलह शुभ स्वप्न देखे। जब महारानी जागी तो उन्होंने अपने पति से उन स्वप्नों का फल पूछा—महाराज ने अवधिज्ञान से स्वप्नों का फल महारानी से कहा। महारानी फल सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुई। उस शुभ मुहूर्त में प्राणत स्वर्ग का वह इन्द्र आयु पूर्ण होने पर महारानी के गर्भ में अवतरित हुआ।

नौ माह पूर्ण होने पर महारानी ने मार्गशीर्ष शुक्ल प्रतिपदा के दिन जैत्रयोग में एक लोकोत्तर पुत्र को जन्म दिया। उसी समय चारों प्रकार के देवों और इन्द्रों ने आकर बाल भगवान को सुमेरु पर्वत पर ले जाकर क्षीरसागर के जल से उनका अभिषेक किया और उनका सब देवों ने मिलकर जन्म कल्याणक महोत्सव बड़े समारोह के साथ मनाया। इन्द्र ने कुन्द क पुष्प के समान काति वाले उस बालक का नाम पुष्पदन्त रक्खा। उनका लाछन मगर था।

बालक पुष्पदन्त जन्म काल से ही मति, श्रुत और अवधिज्ञान का धारक था। वह अपनी बाल-क्रीड़ाओं निष्क्रमण कल्याणक से सब मनुष्यों को प्रसन्न करता था। उसके वस्त्राभूषण, भोजन-पान सभी कुछ देवोपनीत थे। उसके बालसाथी देव थे।

जब बालक कुमार अवस्था पार करके यौवन को प्राप्त हुआ, पिता ने अपना राजपाट उसे सौंप दिया और वे मुनि दीक्षा लेकर आत्म-कल्याण के लिये वनों में चले गये। राज्य-शासन करते हुए महाराज पुष्पदन्त ने ससार

के सभी सुखों का अनुभव किया। भगवान तो असीम पुण्य के स्वामी थे ही, किन्तु जो स्त्रियाँ भगवान को सुख देती थी, वे भी असाधारण पुण्याधिकारिणी थी।

एक दिन भगवान बैठे हुए प्रकृति के सौन्दर्य का रस पान कर रहे थे, तभी अकस्मात् उल्कापात हुआ। ससार में रहकर भी जो ससार से पृथक् थे, उनके लिए यह साधारण लगने वाली घटना ही प्रेरक सिद्ध हुई। वे उल्कापात देखकर विचारमग्न हो गये। वे विचार करने लगे—यह उल्का नहीं है, अपितु मेरे अनादिकाल के महा मोह रूपी अन्धकार को दूर करने वाली दीपिका है। इससे उन्हें बोधि प्राप्त हुई और उन्हें यह दृढ़ आत्म प्रतीति हुई—मेरा आत्मा ही मेरा है, यह राज्य, स्त्री-पुत्र आदि सभी पर हैं, कर्मकृत संयोग मात्र हैं। अब मुझे आत्मा के लिये ही निज का पुरुषार्थ जगाना है।

तभी लौकान्तिक देवों ने आकर भगवान की पूजा की और उनके विचारों को सराहना की। भगवान भी अपने पुत्र सुमति का राज्याभिषेक करके सूर्यप्रभा पालकी में बैठकर नगर के बाहर उद्यान में पहुँचे। वहाँ बेला का नियम लेकर एक हजार राजाओं के साथ दीक्षित हो गये। दीक्षा लेते ही उन्हें मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया। इन्द्रो और देवों ने भगवान का दीक्षा कल्याणक मनाया।

दूसरे दिन वे आहार के लिये ञ्जलपुर नगर में पहुँचे। वहाँ पुष्पमित्र राजा ने उन्हें आहार देकर असीम पुण्य का उपार्जन किया। देवों ने वहाँ पचाश्चर्य किये।

केवल ज्ञान कल्याणक—भगवान निरन्तर तपस्या करते रहे। उन्हें इस प्रकार तपस्या करते हुए चार वर्ष व्यतीत हो गये। तब वे कार्तिक शुक्ला द्वितीया के दिन सायंकाल के समय मूल नक्षत्र में दो दिन का उपवास लेकर नाग वृक्ष के नीचे बैठ गये और उसी दीक्षा वन में धातिया कर्मों को निर्मूल करके अनन्त चतुष्टय को प्राप्त किया।

इन्द्रो ने आकर भगवान के केवलज्ञान की पूजा की और समवसरण की रचना की। उस दिन सर्व पदार्थों का निरूपण करने वाली भगवान की दिव्य ध्वनि प्रगट हुई।

भगवान का संघ—भगवान, पुष्पदन्त के सात ऋद्धियों के धारक विधर्म आदि अठासी गणधर थे। १५०० श्रुतकेवली, १५५५०० शिक्षक, ८४०० अवधिज्ञानी, ७००० केवलज्ञानी, १३००० विप्रिया ऋद्धि के धारक, ७५०० मनःपर्ययज्ञानी और ६६०० वादी मुनि थे। इस प्रकार कुल मुनियों की संख्या २००००० थी। इनके अतिरिक्त घोषार्या आदि ३८०००० आर्थिकाये, २००००० श्रावक और ५००००० श्राविकायें थीं।

निर्वाण कल्याणक—भगवान ने समस्त आर्य देशों में विहार करके सद्धर्म का उपदेश दिया, जिससे असंख्य प्राणियों ने आत्म-हित किया। अन्त में वे सम्मेदशिखर पहुँचे और योग-निरोध करके भाद्रपद शुक्ला अष्टमी के दिन मूल नक्षत्र में सायंकाल के समय एक हजार मुनियों के साथ मोक्ष को प्राप्त हो गये। देव और इन्द्र आये और उनका निर्वाण कल्याणक मनाकर अपने-अपने स्थान को चले गये।

अपर नाम—भगवान पुष्पदन्त का दूसरा नाम सुविधिनाथ भी है।

यक्ष-यक्षिणी—भगवान पुष्पदन्त के सेवक यक्ष का नाम अजित यक्ष और सेविका यक्षिणी का नाम महा-काली था।

इन्हीं के समय में रुद्र नामक तीसरा रुद्र हुआ।

पूर्वी उत्तर प्रदेश के देवरिया जिले में खुखन्द नामक एक कस्बा है। यह सड़क मार्ग से देवरिया-सलेमपुर सड़क से एक मील है। मार्ग कच्चा है। पश्चिम से आने वालों को देवरिया और पूर्व से आने वालों को सलेमपुर उतरना चाहिए। दोनों ही स्थानों से यह १४-१४ कि० मी० है। यहाँ पुराने भवनो के

काकन्दी

भग्नावशेष लगभग एक मील में बिखरे पड़े हैं। यहाँ प्राचीन तालाब हैं और तीस टीले हैं। यही पर प्राचीन काल में काकन्दी थी। काकन्दी का नाम बदलते बदलते किष्किन्धापुर

और फिर खुखन्द हो गया।

इस नगर में पुष्पदन्त भगवान का जन्म हुआ था।

यही पर काकन्दी नरेश अभयघोष हुए थे। उन्होंने एक कछुए की टांगे तलवार से काट दी थी। कछुए का वह जीव उनके घर में ही पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ। अभयघोष नरेश यथासमय पुत्र को राज्य देकर मुनि बन गये। एक बार मुनि अभयघोष विहार करते हुए काकन्दी आये और नगर के बाहर उद्यान में ध्यान लगाकर खड़े हो गये। उनका पुत्र चण्डवेग धूमता हुआ उधर से निकला। पूर्व जन्म के वैर के कारण चण्डवेग ने मुनि अभयघोष को देखते ही उन पर उपसर्ग करना प्रारम्भ कर दिया। उसने तीक्ष्ण धार वाले हथियार से उनके अंग काटना प्रारम्भ कर दिया। जब अन्तिम अंग कट रहा था, तभी मुनिराज को केवलज्ञान हो गया और वही से निर्वाण प्राप्त किया। इस प्रकार यह स्थान सिद्ध क्षेत्र भी है।

यहाँ के टीलो को लोग 'देउरा' कहते हैं। देउरा का अर्थ है देवालय। यहाँ भारत सरकार की ओर से जो खुदाई हुई थी, उसके फलस्वरूप यहाँ तीर्थकर मूर्तियाँ, चैत्य वृक्ष और स्तूपों के भग्न भाग निकले थे। यहाँ खुदाई में ईंटों का एक फर्श भी मिला था, जिसे पुरातत्त्ववेत्ताओं ने जैन मन्दिर माना है।

यहाँ के मन्दिर में भगवान नेमिनाथ की श्यामवर्ण वाली सवा दो फुट की पद्मासन प्रतिमा मूलनायक है। इसके अतिरिक्त भगवान पुष्पदन्त, भगवान पार्श्वनाथ की प्रतिमाएँ हैं। एक चौबीसी है। अम्बिका देवी की एक पाषाण प्रतिमा भूगर्भ से निकली हुई यहाँ रखी है। नेमिनाथ और अम्बिका की मूर्तियाँ गुप्त काल या उससे भी पूर्व की हैं।

ककुभग्राम—आजकल इसका नाम 'कहाऊँ' है। यही भगवान पुष्पदन्त की दीक्षा और केवलज्ञान कल्याणक हुआ था। यह काकन्दी से १६ कि० मी० है। प्राचीन काल में यह काकन्दी का बाहरी उद्यान या वन था।

यहाँ भी चारों ओर भग्नावशेष बिखरे पड़े हैं। यहाँ एक टूटे मकान में पाँच फुट ऊँची सिलेटी वर्ण की एक तीर्थकर प्रतिमा रखी हुई है। यह बीच से खण्डित है। ग्रामीण लोग तेल पानी से इसका अभिषेक करते हैं।

इस कमरे के सामने एक और ऐसी ही प्रतिमा चबूतरे पर पड़ी हुई है। यह काफी शोण है। इसका मुख तक घिस गया है।

इनसे कुछ आगे एक मानस्तम्भ खड़ा है। यह २४ फुट ऊँचा है। इसमें एक ओर भगवान पार्श्वनाथ की सवा दो फुटी खड्गासन प्रतिमा उत्कीर्ण है। स्तम्भ के ऊपरी भाग में पाँच तीर्थकर प्रतिमाएँ विराजमान हैं। ग्रामीण लोग पार्श्वनाथ की पूजा दही-सिन्दूर से करते हैं और इस स्तम्भ को 'भीमसेन की लाट' कहते हैं।

स्तम्भ पर ब्राह्मी लिपि में बारह पक्तियों का एक लेख खुदा हुआ है। उसके अनुसार इस स्तम्भ का निर्माण एव प्रतिष्ठा मद्र नामक एक ब्राह्मण ने गुप्त सवत् १४१ (ई० सन् ४६०) में सम्राट् समुद्रगुप्त के काल में कराई थी। यह ज्ञात मान स्तम्भों में सबसे प्राचीन है।



एकादश परिच्छेद

भगवान् शीतलनाथ

पुष्करवर द्वीप के विदेह क्षेत्र में गीता नदी के दक्षिण तट पर वत्स नामक देश था। उसके सुसीमा नगर में पद्मगुल्म नामक राजा राज्य करता था। वह गान, दाम, दण्ड और भेद का ज्ञाता था। महाय, गाघनोपाय, देश विभाग, काल विभाग और विनिपात प्रतीकार उन पान शर्मा में युक्त मन्त्रि-विग्रह का सम्यक् विनियोग करने वाला था। उसने अपने बुद्धि-कीर्तन में स्वामी, मंत्री, कोट, कोष, मित्र, देश और मेना का मूत्र प्रमान-विग्रह किया था। वह देव, बुद्धि और पुण्याय द्वारा लक्ष्मी की निरन्तर वृद्धि करता रहता था। अन्त में अगमन होने पर वह प्रतिदिन अपनी रानियों के मग विविध क्रीड़ाएँ किया करता था। जब वसन्त ऋतु समाप्त हो गई तो उसे नगर की उस क्षणभंगुरता में वैराग्य हो गया और चन्दन नामक अपने ज्येष्ठ पुत्र को राज्य सौंपकर आनन्द नामक मुनिराज के पास जाकर उसने जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर ली। उसने निरन्तर तपश्चर्या करते हुए अष्टांग योग का अध्ययन किया और पोडश कारण भावनाओं का चिन्तन करते हुए तीर्थंकर नाम कर्म का बन्धन काट लिया। वह नारों आराधनाओं का आराधन करता हुआ आयु के अन्त में समाधिमरण धारण करके आर्णव नामक पन्द्रहवें स्वर्ग का इन्द्र बना।

भरत क्षेत्र में मलय नामक देश था। उसमें भद्रपुर नगर के स्वामी इक्ष्वाकु कुल के भूपण राजा दृढरथ राज्य करते थे। उनकी प्राणवत्तभा का नाम महारानी सुनन्दा था। कुशेर की आज्ञा से यक्ष देवों ने भगवान् के गर्भावतरण से छह मास पहले में महाराज दृढरथ के प्रासाद में रत्न-वर्षा करना प्रारम्भ कर दिया। एक दिन महारानी सुनन्दा ने रात्रि के अन्तिम प्रहर में सोलह स्वप्न देखे और उसके बाद एक विशालकाय हाथी को मुख में प्रवेश करते हुए देखा। उसी समय चंद्र कृष्णा अष्टमी के दिन पूर्वाषाढा नक्षत्र में वह आरणेन्द्र का जीव रानी के गर्भ में अवतीर्ण हुआ।

प्रातः काल होने पर महारानी ने महाराज के पास जाकर अपने स्वप्नों की चर्चा की। महाराज ने ज्ञान से जानकर उनके फल बताते हुए कहा—देवि! तुम्हारे गर्भ में त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर देव अवतरित हुए हैं। सुनकर महारानी अत्यन्त प्रसन्न हुई। देवी ने आकर गर्भकल्याणक की पूजा की।

जन्म कल्याणक—गर्भ-काल पूर्ण होने पर माघ कृष्णा द्वादशी के दिन विश्वयोग में महारानी ने पुत्र-प्रसव किया। उसी समय चारों जाति के देव और इन्द्र आकर बड़े समारोह के साथ बाल भगवान् को सुमेरु पर्वत पर ले गये। वहाँ उन्होंने क्षीरसागर के जल से भगवान् का अभिषेक किया। सौधर्म इन्द्र ने भगवान् की भक्ति से विह्वल होकर ताण्डव नृत्य किया और बालक का नाम शीतलनाथ रक्खा। उनका लाछन श्रीवृक्ष था।

दीक्षा कल्याणक—बालक शीतलनाथ दूज के चन्द्रमा के समान बढ़ने लगे। जब किशोरवयः पार कर वे यौवन अवस्था को प्राप्त हुए, उनके पिता ने उन्हें राज्याभिषेक करके राज्य सौंप दिया और स्वयं मुनि बन गये। भगवान् राज्य पाकर न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करने लगे। प्रजा उनके सुशासन से इतनी सन्तुष्ट थी कि वे प्रजा के हृदय-सम्राट् कहलाते थे।

एक दिन वे वन-विहार के लिए गये। वे जब वन में पहुँचे, उस समय कोहरा छाया हुआ था। किन्तु सूर्यो-

दय होते ही कोहरे का पता भी न चला। सर्वसाधारण के लिए घटना साधारण थी, किन्तु आत्मदृष्टा शीतलनाथ के लिये यही साधारण घटना असाधारण बन गई। वे चिन्तन में डूब गये—कोहरा नष्ट हो गया, यह सारा ससार ही नाशवान् है। अब मुझे दुःख, दुःखी और दुःख का निमित्त इन तीनों का यथार्थ बोध हो गया। मोह के निमित्त से मैं समझता रहा—मैं सुखी हूँ, इन्द्रिय-सुख ही वास्तविक सुख है और यह सुख पुण्योदय से मुझे फिर भी मिलेगा। अतः अब मुझे इस मोह का ही नाश करना है।

भगवान् ऐसा विचार कर रहे थे, तभी लौकान्तिक देवो ने आकर भगवान् की वन्दना की और उनके विचारों की सराहना की। भगवान् ने तत्काल अपने पुत्र को राज्य-भार सौंप दिया और शुक्रप्रभा नाम की पालकी पर सवार होकर नगर के बाहर सहेतुक वन में पहुँचे। वहाँ उन्होंने माघ कृष्ण द्वादशी के दिन सायंकाल के समय पूर्वाषाढा नक्षत्र में दो उपवास का नियम लेकर एक हजार राजाओं के साथ सयम धारण कर लिया।

दीक्षा लेते ही भगवान् को मन पर्ययज्ञान प्रगट हो गया। दो दिन के पश्चात् चर्या के लिए वे अरिष्ट नगर में पहुँचे। वहाँ पुनर्वसु राजा ने नवधा भक्तिपूर्वक भगवान् को आहार-दान देने का सौभाग्य प्राप्त किया।

देवो ने रत्नवर्षा आदि पचाश्चर्य किये। भगवान् आहार करके विहार कर गये। वे घोर केवलज्ञान कल्याणक तपस्या करने लगे। इस प्रकार छद्मस्थ अवस्था के तीन वर्ष तक उन्होंने नानाविध तप किये। तदनन्तर वे एक दिन वेल के वृक्ष के नीचे दो दिन का उपवास करके ध्यानलीन हो गये। तभी पौष कृष्ण चतुर्दशी के दिन पूर्वाषाढा नक्षत्र में सायंकाल के समय भगवान् को केवलज्ञान प्राप्त हो गया। उसी समय देवो ने आकर भगवान् को ज्ञान कल्याणक की पूजा की तथा समवसरण की रचना की। उसमें देव, मनुष्य और तिर्यचो के समक्ष भगवान् की कल्याणी दिव्यध्वनि खिरी। यह भगवान् का प्रथम धर्म-चक्र-प्रवर्तन था।

भगवान् का सघ—भगवान् के सघ में अनगार आदि ८१ गणधर थे। १४०० पूर्वधारी, ५६२०० शिक्षक, ७२०० अवधिज्ञानी, ७००० केवली, १२००० विक्रियात्रुद्धिधारी मुनि, ७५०० मन पर्ययज्ञानी थे। इस प्रकार उनके मुनियों की कुल संख्या एक लाख थी। धरणा आदि ३८०००० आर्यिकाये थी। दो लाख श्रावक और तीन लाख श्राविकाये थी।

निर्वाण कल्याणक—वे चिरकाल तक अनेक देशों में विहार करके भव्य जीवों को कल्याण का मार्ग बताते रहे। अन्त में वे सम्मोदशिखर जा पहुँचे और वहाँ एक माह का योग-निरोध करके उन्होंने प्रतिमा योग धारण कर लिया और आश्विन शुक्ला अष्टमी को सायंकाल के समय पूर्वाषाढा नक्षत्र में समस्त कर्मों का नाश करके एक हजार मुनियों के साथ मोक्ष प्राप्त किया। देवो ने आकर उनके निर्वाण कल्याणक की पूजा की।

यक्ष यक्षिणी—भगवान् शीतलनाथ के सेवक यक्ष का नाम ब्रह्म यक्ष और सेविका मानवी यक्षिणी थी।

भगवान् शीतलनाथ के समय विश्वानल नाम का चौथा रुद्र हुआ था।

भगवान् शीतलनाथ का जन्म भद्रिकापुरी या भद्रिलपुर में हुआ था और उन्होंने अपनी जन्म-नगरी के बाह्य उद्यान में दीक्षा ग्रहण की थी तथा दीक्षा-वन में ही उन्हें केवलज्ञान हुआ। किन्तु भद्रिकापुरी कहाँ है, इस बात

को जैन समाज प्रायः भूल चुकी है। कई विद्वान् अज्ञानवश भेलमा (मध्य प्रदेश) को शीतल-
भ० शीतलनाथ की नाथ भगवान् की जन्म-भूमि मानते हैं। किन्तु भगवान् शीतलनाथ की जन्म-नगरी भद्रिकापुरी
जन्म-भूमि- वर्तमान में विहार प्रान्त में हजारीबाग जिले में है और वर्तमान में उस नगर का नाम भोदल
भद्रिकापुरी गाव है। इसी प्रकार उनका दीक्षा-वन एवं केवलज्ञान कल्याणक स्थान कोल्हुआ पर्वत है।
यह स्थान हजारीबाग जिले की चतरा तहसील में है। यहाँ जाने के लिये ग्राण्ड ट्रक रोड पर
डोभी से या चतरा से सड़क जाती है। चतरा के लिये हजारीबाग से और ग्राण्ड ट्रक रोड पर स्थित चौपारन से
सड़क जाती है। इनके अतिरिक्त गया से शेरघाटी, हटरगज और हटवारिया होकर भी मार्ग है। यह हटरगज से
दक्षिण-पश्चिम में छह मील है। भोदलगाव कोल्हुआ पहाड़ से पाँच-छह मील है।

[सन् १८६६ में प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता श्री नन्दलाल ठे ने यहाँ का निरीक्षण करके इस पर्वत को मकुल पर्वत माना था, जहाँ भ० बुद्ध ने अपना छठवाँ चातुर्मास किया था तथा इस मन्दिर पर स्थित मन्दिरों और मूर्तियों को बौद्ध लिखा था। किन्तु सन् १९०१ में ज० एम० ए० स्टन ने एक नैस लिखकर यह सिद्ध किया था कि यहाँ के सारे मन्दिर और मूर्तियाँ वस्तुतः जैन हैं और यह पर्वत जैन तीर्थंकर शीतलनाथ की पवित्र जन्म-भूमि है। तभी से यह स्थान प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ। यही नहीं, इसके आस-पास में मतगवा, कुन्दविला, बलरामपुर, औरम, दारिका, छर्वा, डलमा, कतरासगढ़, पवनपुर, पाकवीर, तेलकुपी आदि में अनेक प्राचीन जैन मूर्तियाँ उपलब्ध होती हैं। भोदलगाव के निकट तो श्रावक गाव और श्रावक पहाड़ भी हैं। इस सबसे यह सहज ही अनुमान होता है कि यह स्थान कभी जैन धर्म का महान् केन्द्र था और इसके निकट का मारा प्रदेश जैन धर्मानुयायी था।

कोल्हुआ पहाड़ पर जाने के दो मार्ग हैं—पश्चिम की ओर में हटवारिया होकर तथा पूर्व की ओर से घाटी में होकर। हटवारिया की ओर में चढ़ने पर लगभग एक किलोमीटर चलने पर भगवान् पार्श्वनाथ की पीने दो फुट अवगाहना वाली एक प्रतिमा मिलती है। हिन्दू जनता इसे 'द्वारपाल' कहती है। इसमें दो कि० मी० आगे चलने पर एक भग्न कोट मिलता है। फिर एक तालाब ३०० × ७०० गज का मिलता है। सरकार की ओर से इसकी खुदाई कराई गई थी। फलतः एक सहस्रकूट चैत्यालय मिला। इसमें ढाई इंच वाली पचास प्रतिमाएँ हैं। सरोवर के किनारे अनेक खण्डित अखण्डित जैन प्रतिमाएँ और जैन मन्दिरों के अवशेष बिखरे पड़े हैं।]

कोट द्वार के दक्षिण पूर्व की ओर कुलेश्वरी देवी का मन्दिर है, जो मूलतः जैन मन्दिर था। मन्दिर के दक्षिण की ओर एक गुफा में पार्श्वनाथ प्रतिमा है जो प्रायः एक गज ऊँची है। इसके निकट दूसरी गुफा में एक पद्मासन तीर्थंकर-मूर्ति है।

सरोवर के उत्तर में एक छोटा-सा प्राचीन जैन मन्दिर है, जिसके ऊपर पाँच शिखर हैं। इसे सर्वे सैटिल-मेण्ट के नक्शे में पार्श्वनाथ मन्दिर माना है। मन्दिर के बाहर जो चबूतरा है, उसे पार्श्वनाथ चबूतरा लिखा है। आगे जाकर आकाश लोचन कूट है। उस पर आठ इंच लंबे चरण बने हुए हैं। इसमें कुछ आगे एक गुफा में एक फुट अवगाहना वाली दस प्रतिमाएँ एक चट्टान में उकेरी हुई हैं। इससे आगे एक चट्टान में पाँच पद्मासन और पाँच खड्गासन प्रतिमाएँ उत्कीर्ण हैं। भूल से लोग इन्हें पाँच पाण्डवों और दशावतार की प्रतिमाएँ कहने लगे हैं।]

भोदलगाव छोटा-सा गाव है। अनुसन्धान किया जाय तो यहाँ भी जैन मन्दिर और मूर्तियाँ मिल सकती हैं।

भगवान् शीतलनाथ के तीर्थ का अन्तिम चरण था। उस समय वक्ता, श्रोता और धर्माचरण करने वाले व्यक्तियों का अभाव हो गया। उस समय भद्रिलपुर में मलय देश का राजा मेघरथ था। एक दिन राजा ने राज्य-सभा में प्रश्न किया—सबसे अधिक फल देने वाला दान कौन सा है? इसके उत्तर में

मिथ्यादान का सत्यकीर्ति नामक मंत्री, जो दान के तत्त्व को जानने वाला था—कहा—'अपचार्यों ने तीन दान सर्वश्रेष्ठ बताये हैं—शास्त्रदान, अभयदान और अन्नदान। अन्नदान की अपेक्षा अभय-

दान श्रेष्ठ है और अभयदान की अपेक्षा शास्त्रदान उत्तम है। आप्त द्वारा कहा हुआ और पूर्वापर अविरोधी एवं प्रत्यक्ष-परोक्ष से वाधित न होने वाला शास्त्र ही सच्चा शास्त्र कहलाता है। ऐसे शास्त्र का व्याख्यान करने से ससार के दुःखों से त्रस्त व्यक्तियों का कल्याण होता है। अतः शास्त्र-दान ही सर्वोत्तम फल देने वाला है। इस दान के द्वारा ही हेय और उपादेय तत्त्व का बोध होता है। किन्तु राजा को यह रुचिकर प्रतीत नहीं हुआ। अपनी कलुषित भावनाओं के कारण वह कुछ और ही दान देना चाहता था।

उसी नगर में भूतिशर्मा नामक एक ब्राह्मण रहता था। वह छोटे शास्त्र बनाकर राजा को प्रसन्न किया करता था। उसके मरने पर उसका पुत्र मुण्डशालायन भी यही काम करता रहा। वह भी उस समय राज्य-सभा में बैठा हुआ था। वह बोला—'महाराज! ये सब दान तो साधुओं और दरिद्रों के लिये हैं। किन्तु महत्वाकांक्षी राजाओं के लिये तो शाप और अनुग्रह करने की शक्ति से सम्पन्न ब्राह्मणों के लिये सुवर्ण, भूमि आदि का दान अन्न-

काल तक यश देने वाला है।' यह कहकर उसने अपने बनाये हुए शास्त्र को खोलकर उसे सबको सुना दिया। राजा उसकी बातों से बड़ा प्रसन्न हुआ और उसने मुण्डलायन को पृथ्वी और सुवर्ण का दान देकर सम्मानित किया।

इसके बाद उत्साहित होकर मुण्डलायन ने दस प्रकार के दानों का विधान किया (१) कन्यादान (२) सुवर्णदान (३) हस्तिदान (४) अश्वदान (५) गोदान (६) दासीदान (७) तिलदान (८) रथदान (९) भूमिदान और (१०) गृहदान।

तबसे पूर्वाचार्यों द्वारा प्रणीत दानों के स्थान पर इन दानों की परम्परा चल पड़ी।



धीरे धीरे श्रेयान्स कुमार बढ़ने लगे। जब उनका कुमार काल व्यतीत हो गया और उन्होंने यौवन में पदार्पण किया, पिता ने अपना राज्य पुत्र को सौंप दिया। अब श्रेयान्सनाथ ने राज्य-भार दीक्षा कल्याणक सभाल लिया। उन्हें पूर्व पुण्य से सब प्रकार के भोग प्राप्त थे। प्रजा उनके पुण्य-प्रभाव और सुशासन से खूब सन्तुष्ट थी और निरन्तर समृद्धि की ओर बढ़ रही थी। उनका शासन

कल्याणकारी था।

एक दिन वसन्त ऋतु का परिवर्तन देखकर उनके मन में विचार प्रस्फुटित हुआ—काल बड़ा बलवान है, ऐसा कहा जाता है। किन्तु काल भी छिन छिन में छोड़ रहा है। जब काल ही अस्थिर है, तब ससार में स्थिर क्या है? केवल शुद्ध स्वरूप आत्मा के गुण ही अविनश्वर हैं। जब तक शुद्ध आत्मस्वरूप की प्राप्ति न हो जाय, तब तक निश्चिन्त नहीं हो सकता,

भगवान यह विचार कर रहे थे, तभी सारस्वत आदि लौकान्तिक देवों ने आकर उनकी स्तुति की और उनके वैराग्य की सराहना की।

भगवान ने अपने पुत्र श्रेयस्कर को राज्य सौंप दिया और देवों द्वारा उठाई गई विमलप्रभा नामक पालकी में आरूढ़ होकर नगर के बाह्य अचल में स्थित मनोहर उद्यान में पहुँचे। वहाँ पहुँच कर दो दिन के लिये आहार का त्याग कर फाल्गुन कृष्ण एकादशी को प्रातः काल के समय श्रवण नक्षत्र में एक हजार राजाओं के साथ सयम धारण कर लिया। उसी समय उन्हें मन पर्ययज्ञान प्रगट हो गया।

उन्होंने पारणा के लिये सिद्धार्थ नगर में प्रवेश किया। वहाँ नन्द राजा ने भगवान को भक्तिपूर्वक आहार दिया। देवों ने पचाश्चर्य किये।

भगवान श्रेयान्सनाथ ने तप करते हुए दो वर्ष विभिन्न स्थानों पर विहार करते हुए बिताये। वे फिर विहार करते हुए अपने दीक्षा-वन में पधारे। वहाँ दो दिन के उपवास का नियम लेकर वे तुम्बुर वृक्ष के नीचे ध्याना-रूढ़ हो गये। वही पर उन्हें माघ कृष्ण अमावस्या के दिन श्रवण नक्षत्र में सायंकाल के समय केवलज्ञान कल्याणक केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। देवों और इन्द्रों ने आकर केवलज्ञान कल्याणक उत्सव मनाया।

इन्द्र की आज्ञा से कुवेर ने समवसरण की रचना की। उसमें देव, मनुष्य और तिर्यचों के पुण्य योग से भगवान की प्रथम दिव्यध्वनि खिरी। इस प्रकार उन्होंने धर्मचक्र प्रवर्तन किया।

भगवान के कुन्धु आदि सत्तत्तर गणधर थे। १३०० पूवधर, ४८२०० शिक्षक, ६००० अवधिज्ञानी, ६५०० केवलज्ञानी, ११००० विक्रियाकृद्धिधारी, ६००० मन पर्ययज्ञानी और ५००० वादी भगवान का परिवार मुनि थे। इस प्रकार कुल मिलाकर ८४००० मुनि थे। इनके अतिरिक्त धारणा आदि १२०००० अजिकाये थी। २००००० श्रावक और ५००००० श्राविकाये थी।

केवलज्ञान के पश्चात् भगवान विभिन्न देशों में विहार करके भव्य जीवों को उपदेश देते रहे। जब आयु निर्वाण कल्याणक कर्म का अन्त होने में एक माह शेष रह गया, तब वे सम्मोदशिखर पहुँचे। वहाँ एक माह तक योग निरोध कर एक हजार मुनियों के साथ श्रवण शुक्ला पूर्णमासी के दिन सायंकाल के समय धनिष्ठा नक्षत्र में अघातिया कर्मों का क्षय करके मुक्त हो गये।

देवों ने आकर धूमधाम से उनका निर्वाण कल्याणक मनाया।

यक्ष-यक्षिणी—भगवान श्रेयान्सनाथ के सेवक यक्ष का नाम यक्षेश्वर और सेविका यक्षिणी का नाम गौरी था।

भगवान श्रेयान्सनाथ का जन्म सिंहपुरी में हुआ था। यह स्थान वाराणसी से सड़क मार्ग द्वारा छह किलो सिंहपुरी मीटर है। वाराणसी से टैंक्सी और बस बराबर मिलती है। ट्रेन से जाना हो तो सारनाथ स्टेशन उतरना चाहिए। वहाँ से जैन मन्दिर तीन फर्लांग है। आजकल यह स्थान सारनाथ कहलाता है। यहाँ श्रेयान्सनाथ के गर्भ, जन्म, दीक्षा और केवलज्ञान ये चार कल्याणक हुए थे।

यहाँ एक शिखरवन्द दिगम्बर जैन मन्दिर है। मन्दिर में भगवान श्रेयान्सनाथ की ढाई फुट अवगाहना

त्रिपृष्ठ नारायण

राजगृह नगर के अधिपति विष्णुभूति और उनकी पत्नी जैनों के एक ही पुत्र था, जिसका नाम विष्णुनन्दी निदान बन्ध था। विष्णुभूति का एक भाई था विशाखभूति। उनकी स्त्रियों का नाम लक्ष्मणा था। उनके पुत्र का नाम विशाखनन्द था। वह निपट मूर्ख था।

एक दिन शत्रु शत्रु के मेघ का नाम देगाकर विष्णुभूति नरेश को बंगम्य हो गया। उगने अपने छोटे भाई विशाखभूति को राज्य दे दिया और गुजराज पद अपने पुत्र विष्णुनन्दी को देकर मुनि-दीक्षा ले ली। विशाखभूति राज्य-भोगन चलाते लगा।

उन नगर के बाहर नन्दन उद्यान था, जो नानाओं, गुम्फों और पुष्पों में परिपूर्ण था। विष्णुनन्दी को यह उद्यान बहुत पसन्द था। एक दिन वह अपनी मित्रियों के साथ उद्यान में प्रहार कर रहा था। विशाखनन्द ने उसे देखा और द्वेषवश वह उद्यान पर अधिकार करने का उपाय सोचने लगा। तभी वह अपने पिता विशाखभूति के पास पहुँचकर बोला—‘यह नन्दन उद्यान मे चाहता है। उसे आप मुझे दे दीजिये, अन्यथा मैं राज्य छोड़कर अन्यत्र चला जाऊँगा।’ विशाखभूति बोला—‘यह क्या बड़ी बात है। वह उद्यान तुम्हें दे दूँगा।’

राजा ने गुजराज विष्णुनन्दी को बुलाया और कहने लगा—‘पुत्र’ मैं समीपवर्ती राजाओं पर आक्रमण करके उनके उपद्रव शान्त करने जा रहा हूँ। तब तक राज्य का भार तुम ग्रहण करो।’ विष्णुनन्दी यह सुनकर बोला—‘पूज्यपाद’ आप यही पर निश्चिन्त रहें। मैं जाकर शत्रु ताल में उन राजाओं को पराजित करके शीघ्र लौट आऊँगा।’

विष्णुनन्दी चाचा की आज्ञा में मेना गजाकर चल दिया। तभी विशाखभूति ने नन्दन उद्यान अपने पुत्र विशाखनन्द को दे दिया। विष्णुनन्दी को उन घटना का पता तत्काल चल गया। उसे चाचा के इस छल को देखकर बड़ा क्रोध आया। वह फौरन लौट आया और उद्यान पर अधिकार करने वाले विशाखनन्द को मारने को उद्यत हो गया। विशाखनन्द भयभीत होकर कंधे के वृक्ष पर चढ़ गया। विष्णुनन्दी ने क्रोध में उग वृक्ष को जड़ मगेत उखाड़ डाला और उसी में विशाखनन्द को मारने को भपटा। विशाखनन्द वहाँ में भागकर एक पाषाण-स्तम्भ के पीछे जा छिपा। विष्णुनन्दी पीछा करता हुआ वही जा पहुँचा और मुष्टिका प्रहार में उग स्तम्भ को ही तोड़ दिया। विशाखनन्द वहाँ में भी भागा। तब विष्णुनन्दी को उग पर दया आ गई और उसे अभय देते हुए वह उद्यान भी उसे ही दे दिया किन्तु मन में ऐसी गिनता भर गई कि वह तत्काल वहाँ में चलकर सम्भूत मुनि के पास पहुँचा और उनसे मुनि-दीक्षा ले ली। उस घटना से विशाखभूति को भी बड़ा पश्चात्ताप हुआ, उसे अपनी भूल पर दुःख हुआ और उसने भी राजपाट छोड़ कर सयम धारण कर लिया।

मुनि विष्णुनन्दी घोर तपश्चर्या करने लगे। शरीर अत्यन्त कुश हो गया। विहार करते हुए वे मथुरा पहुँचे। वे आहार के निमित्त नगर में गये। शरीर अत्यन्त दुर्बल हो गया था, पैर डगमगा रहे थे। विशाखनन्द व्यसनों के कारण राज्यभ्रष्ट होकर मथुरा आया हुआ था। उस समय वह एक वेश्या के भवन की छत पर बैठा हुआ था। तभी एक सद्य प्रसूता गाय ने मुनि विष्णुनन्दी को धक्का देकर गिरा दिया। उन्हें गिरते देखकर विशाखनन्दी उनका उपहास करता हुआ बोला—‘पत्थर का खम्भा तोड़ने वाला तुम्हारा पराक्रम क्या यही है?’ बात मुनि के मन में चुभ गई। उन्होंने निदान किया कि मैं इस उपहास का बदला विशाखनन्दी से अवश्य लूँगा। इस प्रकार निदान-बन्ध कर

के उनका मरण हो गया। वे मरण कर महाशुक्र विमान में देव हुए। विशाखभूति मुनि भी मर कर इसी स्वर्ग में देव हुए।

त्रिपृष्ठ नारायण के रूप में—सुरम्य देश के पोदनपुर नगर के नरेश प्रजापति की दो रानियाँ थी—जयावती और मृगावती। विशाखभूति का जीव स्वर्ग से आयु पूरी करके जयावती का पुत्र विजय हुआ और विश्व-नन्दी का जीव मृगावती के त्रिपृष्ठ नामक पुत्र हुआ।

विजयार्ध पर्वत की उत्तर श्रेणी के अलकापुर नगर में मयूरग्रीव नाम का विद्याधरो का राजा रहता था। उसकी रानी का नाम नीलाजना था। विशाखनन्द का जीव विभिन्न योनियों में भटकता हुआ उस विद्याधर नरेश के अश्वग्रीव नाम का पुत्र हुआ।

विजयार्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी में रथनूपुर चक्रवाल नामक एक प्रसिद्ध नगर था। ज्वलनजटी नामक विद्याधर उस नगर का स्वामी था। उसकी रानी का नाम वायुवेगा था। उनके अर्ककीर्ति नामक पुत्र और स्वय-प्रभा नामक पुत्री थी। स्वयप्रभा अत्यन्त सुन्दरी थी। यौवन में पदार्पण करते ही उसका सौन्दर्य सम्पूर्ण कलाओं से सुशोभित हो उठा। उसे देखकर ज्वलनजटी विचार करने लगा कि मेरी पुत्री के उपयुक्त कौन पात्र है। उसने निमित्त शास्त्र में कुशल पुरोहित से इस सम्बन्ध में परामर्श किया। पुरोहित बोला—यह सर्व शुभ लक्षणों से सम्पन्न कन्या प्रथम नारायण की पट्टमहिषी बनेगी। प्रथम नारायण पोदनपुर में उत्पन्न हो चुका है।

ज्वलनजटी ने तत्काल नीतिकुशल इन्द्र नामक मन्त्री को बुलाया और उसे पत्र तथा भेंट देकर पोदनपुर को भेजा। मन्त्री रथ में आरुढ़ होकर पोदनपुर पहुँचा। वहाँ ज्ञात हुआ कि पोदनपुर नरेश पुष्पकरण्डक नामक वन में वन-विहार के लिये गये हुए है। वह उस वन में पहुँचा और राजा के समक्ष जाकर मन्त्री ने उन्हें प्रणाम किया तथा उनके चरणों में भेंट रखकर पत्र समर्पित किया। राजा ने पत्र खोलकर पढ़ा। पत्र में जो लिखा था, उसका आशय यह था—विद्याधरो का स्वामी, महाराज नमि के वंश रूपी आकाश का सूर्य मैं ज्वलनजटी रथनूपुर से पोदनपुर नगर के स्वामी, भगवान् वृषभदेव के पुत्र बाहुवली के वंशावतस महाराज प्रजापति को सिर से नमस्कार करके कुशल प्रश्न के अनन्तर निवेदन करता हूँ कि हमारा और आपका वैवाहिक सम्बन्ध अति प्राचीन काल से चला आ रहा है। मेरी पुत्री स्वयप्रभा जो सौन्दर्य और गुणों में लक्ष्मी सदृश है, आपके प्रतापी पुत्र त्रिपृष्ठ की अर्धाङ्गिनी बने, मेरी यह हार्दिक इच्छा है।

महाराज प्रजापति पत्र पढ़ कर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—भाई ज्वलनजटी को जो इष्ट है, वह मुझे भी इष्ट है। यह कहकर उन्होंने बड़े आदर के साथ मन्त्री को विदा किया। मन्त्री ने यह हर्ष-समाचार अपने स्वामी को दिया। ज्वलनजटी अपने पुत्र अर्ककीर्ति के साथ स्वयप्रभा को लेकर पोदनपुर आया और बड़े वैभव के साथ अपनी पुत्री का विवाह त्रिपृष्ठ के साथ कर दिया। इसके अतिरिक्त उसने त्रिपृष्ठ के लिए सिंहवाहिनी और गरुडवाहिनी नामक दो विद्याएँ भी प्रदान की।

जब अश्वग्रीव को अपने चरो द्वारा इस विवाह के समाचार ज्ञात हुए तो वह ईर्ष्या और क्रोध से भड़क उठा। वह अनेक विद्याधर राजाओं, रणकुशल सैनिकों और अस्त्र-शस्त्रों से सज्जित होकर रथावर्त नामक पर्वत पर आ पहुँचा। अश्वग्रीव के अभियान की बात सुनकर राजकुमार त्रिपृष्ठ भी सेना को सज्जित कर युद्धक्षेत्र में आ डटा। दोनों सेनाओं में घनघोर युद्ध हुआ। अश्वग्रीव से त्रिपृष्ठ जा भिड़ा। दोनों में भयानक युद्ध हुआ। अन्त में त्रिपृष्ठ ने अश्वग्रीव को बुरी तरह पराजित कर दिया। किन्तु अश्वग्रीव पराजय स्वीकार करने वाला व्यक्ति नहीं था। उसने क्रुद्ध होकर त्रिपृष्ठ के ऊपर भयानक चक्र चला दिया। सारी सेना आतंक के मारे सिहर उठी। किन्तु वह चक्र त्रिपृष्ठ की प्रदक्षिणा देकर उसकी दाहिनी भुजा पर ठहर गया। त्रिपृष्ठ ने चक्र लेकर शत्रु के ऊपर फेंका। उसने जाते ही शत्रु की गर्दन धड़ से अलग कर दी।

त्रिपृष्ठ अर्धचक्री अर्थात् नारायण बनकर भरत क्षेत्र के तीन खण्डों का अधीश्वर बन गया। प्रतिनारायण अश्वग्रीव पर विजय प्राप्त कर नारायण त्रिपृष्ठ अपने भाई विजय के साथ विजयार्ध पर्वत पर गया। वहाँ उसने दक्षिण और उत्तर दोनों श्रेणियों के राजाओं को एकत्रित करके ज्वलनजटी को दोनों श्रेणियों का सम्राट् बना दिया।

विजय और निपृष्ठ दोनों प्रथम बलभद्र और नारायण थे। विजय का शरीर शम्भ के समान श्वेत तथा निपृष्ठ का शरीर इन्द्रनील मणि के समान नील था। ये दोनों सोलह हजार मुमुक्षुबद्ध राजाओं, विद्याधरों एवं व्यन्तरक्षों के अधिपति थे। निपृष्ठ के देवरक्षित धनुष, शङ्ख, चक्र, दण्ड, शक्ति, शक्ति और गदा ये सात स्तन थे। उमारी सोलह हजार रानियाँ थी तथा बलभद्र के आठ हजार स्त्रियाँ थी। उनके नाम स्तन थे—हृन्, मूगन्, गदा और भाना। निपृष्ठ नारायण चिर जलन तक भोग भोगकर अत्यधिक आरम्भ और परिग्रह के कारण मरकर सातवें नरक में गया। विजय ने भार्गव के वियोग में दुःखित होकर मुचुण्डमुम्भ नामक मुनिराज के पास सयम धारण कर लिया। वह घोर तपस्या करके केवली हुआ। अन्त में निर्वाण प्राप्त किया।

(निपृष्ठ का यह जीव ही आगे जाकर चौबीसवाँ तीर्थंकर महावीर बना।)

त्रयोदश परिच्छेद

भगवान् वासुपूज्य

पुष्करार्ध द्वीप के पूर्व मेरु की ओर सीता नदी के दक्षिण तट पर वत्सकावती नाम का देश था। उसके रत्नपुर नगर का स्वामी पद्मोत्तर नाम का राजा था। उस राजा की कीर्ति चारो दिशाओ में व्याप्त थी। वह अनेक गुणों का पूज और प्रजा-वत्सल था। एक दिन मनोहर पर्वत पर युगन्धर जिनराज पधारे।

पूर्व भव राजा को उनके आगमन का समाचार मिलते ही वह उनके दर्शनो के लिए पहुँचा। उसने भक्ति-पूर्वक जिनराज की वन्दना और स्तुति की। भगवान् का उपदेश सुनकर उसका मन वैराग्य के रंग में रंग गया। उसे ससार नि सार अनुभव होने लगा। उसने तभी आकर अपने पुत्र धनमित्र को राज्य सौंप दिया और अनेक राजाओ के साथ जिनदेव से मुनि-दीक्षा ले ली। उसने जिनराज के चरणों में ग्यारह अंगों का अध्ययन किया, दर्शन विशुद्धि आदि भावनाओ का निरन्तर चिन्तन किया। फलतः उसे तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध हो गया। अन्त में सन्यास मरण करके वह महाशुक्र विमान में इन्द्र बना।

चम्पा नगरी अग देश की राजधानी थी। वहाँ के अधिपति महाराज वसुपूज्य थे जो इक्ष्वाकु वंशी काश्यप गोत्री थे। उनकी पत्नी का नाम जयावती था। गर्भकल्याणक से छह माह पूर्व से देवों ने उनके यहाँ रत्नवर्षा करना प्रारम्भ किया। रानी ने आपाढ़ कृष्णा षष्ठी के दिन चौबीसवें शतमिषा नक्षत्र में रात्रि के अन्तिम प्रहर में सोलह स्वप्न देखे। उन्होंने प्रातः काल होने पर पति से स्वप्नों की चर्चा की और उनका फल पूछा। पतिदेव ने उनका फल वर्णन किया, सुनकर रानी बड़ी हर्षित हुई। उसी दिन महाशुक्रेंद्र का जीव आयु पूरी करके उनके गर्भ में अवतरित हुआ। देवों ने आकर भगवान् का गर्भ कल्याणक महोत्सव किया।

नौवें माह के पूरे होने पर फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी के दिन वारुण योग में सब प्राणियों का हित करने वाले पुत्र का जन्म हुआ। वह पुत्र असाधारण था, उसका जन्म-महोत्सव भी असाधारण ढंग से मनाया गया। चारों जाति के देव और इन्द्र चम्पापुरी में आये। सौधर्मेन्द्र शची द्वारा सौर गृह से लाये हुए बालक को

जन्म कल्याणक ऐरावत गज पर आरूढ़ करके सब देवों के साथ सुमेरु पर्वत पर पहुँचे। वहाँ उन्होंने क्षीर-सागर के जल से प्रभु का जन्माभिषेक किया। शची ने प्रभु का श्रृंगार किया। फिर बालक को लेकर चम्पापुरी लौटे। बालक को माता को सौंपा और इन्द्र ने बालक का नाम वासुपूज्य रक्खा। इनका शरीर लाल कमल के समान लाल था। पैर में भैंसे का चिन्ह था।

भगवान् के पुण्य-प्रभाव से माता-पिता तथा प्रजा के धन-धान्य, सुख-ऐश्वर्य सभी प्रकार की वृद्धि होने लगी। बाल भगवान् गुणों की खान थे। जब भगवान् यौवन अवस्था को प्राप्त हुए, तब उन्होंने विवाह के बन्धन में बधना स्वीकार नहीं किया और वे आजन्म ब्रह्मचारी रहे। एक दिन वे एकान्त में बैठे चिन्तन में लीन थे, तभी अवधिज्ञान से उन्होंने अपने पिछले जन्म का ज्ञान किया। उनके गत जन्म में जो नाना घटनाएँ घटित हुई थी, उन्हें जानकर मन पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि यहाँ सब चञ्चल है, नाशवान है। जो है, सब राग रूप है, दुःख रूप है। फिर ऐसे ससार से मोह जोड़कर लाभ क्या? जिसका विछोह अनिवार्य है, उससे ममत्व का नाता क्यों?

भगवान् इस प्रकार के चिन्तन में लीन थे, तभी लौकान्तिक देव वहाँ आये और उन्होंने भगवान की स्तुति करके उनके विचारों की प्रशंसा की। देवों ने दीक्षा कल्याणक के समय होने वाला अभिषेक किया, विविध वस्त्राभूषण पहनाये। भगवान् देवों द्वारा लाई हुई पालकी पर आरूढ़ होकर मन्दारगिरि के वन में पहुँचे और एक दिन के उपवास का नियम लेकर फाल्गुन कृष्ण चतुर्दशी को सायंकाल के समय विशाखा नक्षत्र में सामायिक चारित्र्य धारण कर छह सौ छहत्तर राजाओं के साथ दीक्षा ले ली। दीक्षा लेते ही उनकी परिणाम-विशुद्धि के कारण तत्काल मन-पर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया।

वे पारणा के लिए जब नगर में पधारे तो सुन्दर नरेश ने उन्हें आहार-दान देकर पुण्य-बन्ध किया और पचाश्चर्य का सम्मान प्राप्त किया।

भगवान् तप करने लगे। छद्मस्थ अवस्था का एक वर्ष बीतने पर वे विहार करते हुए दीक्षा-वन में पधारे। वहाँ उन्होंने कदम्ब वृक्ष के नीचे बैठकर उपवास का नियम लिया और माघ शुक्ला द्वितीया के दिन सायंकाल के समय विशाखा नक्षत्र में चार घातिया कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त किया। वे सर्वज्ञ-सर्वदर्शी केवलज्ञान कल्याणक बन गये। इन्द्रो और देवों ने आकर उनकी पूजा की। इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने समवसरण की रचना की। उसमें श्रीमण्डप के बीच गन्धकुटी में अशोक वृक्ष के नीचे कमलासन पर विराजमान होकर भगवान् की दिव्य ध्वनि खिरी। इस प्रकार उन्होंने मन्दारगिरि पर धर्म-चक्र-प्रवर्तन करके धर्म की विच्छिन्न कडी को पुन जोड़ा।

भगवान् का सघ—उनके धर्म आदि छियासठ गणधर थे। उनके सघ में १२०० पूर्वधर, ३६२०० शिक्षक, ५४०० अवधि ज्ञानी, ६००० केवल ज्ञानी, १०००० विक्रिया ऋद्धिधारी, ६००० मन पर्ययज्ञानी और ४२०० वादी थे। इस प्रकार कुल मुनियों की संख्या ७२००० थी। इनके अतिरिक्त सेना आदि १०६००० आर्याकाये थी। २००००० श्रावक और ४००००० श्राविकायें थी।

निर्वाण कल्याणक—भगवान् ने समस्त आर्य क्षेत्रों में विहार करके धर्म-वर्षा की और विहार करते हुए चम्पापुरी में एक हजार वर्ष तक रहे। जब आयु में एक मास शेष रह गया, तब योग निरोध कर रजतमालिका नदी के तट पर स्थित मन्दारगिरि के मनोहरोद्यान में पल्यकासन से स्थित हुए तथा भाद्रपद^१ शुक्ला चतुर्दशी के दिन सायंकाल के समय विशाखा नक्षत्र में चौरानवे मुनियों के साथ मुक्ति को प्राप्त हुए। देवों ने आकर भगवान् के निर्वाण कल्याणक की पूजा की।

यक्ष-यक्षिणी—उनके सेवक यक्ष का नाम कुमार और यक्षिणी का नाम गान्धारी है।

भगवान् वासुपूज्य के गर्भ, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण ये पाँचो कल्याणक चम्पानगरी में हुए थे। चम्पा के अतिरिक्त अन्य कोई ऐसी नगरी नहीं है, जिसको किसी तीर्थंकर के पाँचो कल्याणक मनाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ हो। इस दृष्टि से चम्पा की विशेष स्थिति है। [निर्वाण काण्ड, निर्वाण भक्ति, तिलोय-

चम्पापुरी पण्णत्ति तथा सभी पुराण ग्रन्थों में चम्पा को वासुपूज्य भगवान् की निर्वाण-भूमि माना है।

केवल उत्तर पुराणकार ने पर्व ५८ श्लोक ५१-५३ में मन्दार पर्वत को वासुपूज्य भगवान् की निर्वाण-स्थली लिखा है। किन्तु इससे चम्पा को उनकी निर्वाण-भूमि मानने में कोई असंगति अथवा विरोध नहीं आता। चम्पापुरी उन दिनों काफी विस्तृत थी। पुराणों में उल्लेख है कि चम्पा का विस्तार अड़तालीस कोस में था। मन्दारगिरि तत्कालीन चम्पा का बाह्य उद्यान था और वह चम्पा में ही सम्मिलित था।]

[वर्तमान में मान्यता है कि चम्पा नाले में वासुपूज्य स्वामी के गर्भ और जन्म कल्याणक हुए थे, मन्दारगिरि पर दीक्षा और केवल ज्ञान कल्याणक हुए तथा चम्पापुर से भगवान् का निर्वाण हुआ।]

१ यह उत्तर पुराण के अनुसार है।

तिलोयपण्णत्ति के अनुसार भगवान् वासुपूज्य का निर्वाण फाल्गुन कृष्ण पचमी, अपराह्न काल, अश्विनी नक्षत्र में ६०१ मुनियों के साथ चम्पापुर में हुआ।

यह नगरी अग देश की राजधानी थी। ऋषभदेव भगवान ने जिन ५२ जनपदों की रचना की थी, उनमें अग भी था। महावीर-काल में जिन छह महानगरियों की चर्चा आती है, उनमें चम्पा भी एक नगरी थी। हजारों वर्षों तक इधवाकु वशी ही इसके शासक होते रहे।

यहाँ अनेकों धार्मिक घटनाएँ हुई थी। यहाँ अनेक मुनि मोक्ष पधारे। यहाँ अनेक महापुरुष हुए।

—मिथिला नरेश पद्मरथ सुधर्म गणधर के दर्शनो को गये। उनका उपदेश सुनकर श्रावक के वारह व्रत धारण किये। उन्होंने गणधर भगवान से पूछा—‘क्या ससार में कोई ऐसा भी व्यक्ति है जो आपके समान उपदेश दे सके।’ गणधर बोले—‘हाँ, है। वे हैं भगवान वासुपूज्य जो समार के गुरु हैं, त्रिलोक पूज्य हैं। वे इस समय चम्पा के उद्यान में विराजमान हैं।’ राजा ने सुना तो वे तत्काल तीर्थंकर प्रभु के दर्शन करने चल दिये। मार्ग में गुप्तिचर ने समाचार दिया कि अजातशत्रु की सेना आनमण के लिए आ रही है। पद्मरथ ने सेनापति को आज्ञा दी—सेना सज्जित करो, किन्तु शत्रु पक्ष का रक्त बहाये बिना विजय प्राप्त करनी है। युद्ध हुआ, शत्रु पक्ष का एक भी सैनिक हताहत नहीं हुआ और विजय पद्मरथ की हुई। उन्होंने ऐसे शस्त्रों का प्रयोग किया, जिससे शत्रु बेहोश हो जाय, किन्तु मरे नहीं।

पद्मरथ फिर चलने को तैयार हुए, किन्तु तभी मिथिला नगरी में भयानक आग लग गई। इस आग में राजमहल भी जल गया, किन्तु राजा के मन में विकलता नाममात्र को भी न थी। मंत्रियों ने अपशकुन बताकर उन्हें रोकना चाहा, किन्तु दृढनिश्चयी पद्मरथ ने कहा—‘वाधाओं को जीतना ही वीरों का काम है। और वह वीर तीर्थंकर प्रभु के दर्शनो को चल पड़ा। राह में देखा—कुछ कुष्ठ रोगी पीड़ा से कराह रहे हैं। राजा के मन में करुणा जागी और वे उनकी सेवा में जुट गये, उनके घाव साफ किये, मरहम पट्टी की। एक कोढ़ी ने उनके ऊपर वमन कर दिया, किन्तु उन्हें तनिक भी क्षोभ या ग्लानि नहीं आई, बल्कि वे अपनी सुधि भूलकर उस असहाय की सेवा करने लगे।

आगे बढ़े तो एक स्थान पर बलि देते हुए किसी को देखा। उसे प्रेम से समझाया। तभी विश्वानल और धन्वन्तरि देव आये और राजा की प्रशंसा करते हुए बोले—‘राजन्! तुम धन्य हो। हमने ही तुम्हारी परीक्षा के लिए ये सब नाटक किये थे। किन्तु आप सम्यक्त्व में खरे उतरे।’ फिर वे दोनों देव राजा को एक अद्भुत भेरी और व्याधिहर हार देकर चले गये।

राजा भेरी बजाते हुए चम्पा के उद्यान में पहुँचे और वहाँ वासुपूज्य स्वामी की वन्दना करके उनकी स्तुति की। भगवान का उपदेश हुआ। उपदेश सुनकर पद्मरथ को वैराग्य हो गया। उन्होंने वही भगवान के चरणों में दीक्षा ले ली। उन्होंने ऐसी साधना की कि उन्हें मन पर्ययज्ञान हो गया। वे भगवान के गणधर बन गये और भगवान के ही साथ निर्वाण प्राप्त किया।

—चम्पा नरेश मधवा की पुत्री रोहिणी अत्यन्त सुन्दरी थी। सौन्दर्य में वह मानो रति ही थी। उसका स्वयंवर हुआ। उसने हस्तिनापुर नरेश वीतशोक के सुदर्शन पुत्र अशोक के गले में वरमाला डाल दी। दोनों आनन्द-पूर्वक रहने लगे। पिता के बाद अशोक राजा बना। एक बार दोनों भगवान वासुपूज्य के दर्शनो के लिए चम्पापुरी गये। भगवान का उपदेश सुनकर दोनों ने दीक्षा ले ली। मुनि अशोक भगवान के गणधर बने और अन्त में मोक्ष पधारे। रोहिणी अच्युत स्वर्ग में देव हुई।

—सेठ सुदर्शन यही उत्पन्न हुए थे और उन्हें पाटलिपुत्र में निर्वाण प्राप्त हुआ।

—चम्पानगर में धर्मघोष नामक एक श्रेष्ठी थे, वे मुनि हो गये। वे मासोपवासी थे। वे पारणा के निमित्त नगर को आ रहे थे, किन्तु मार्ग में घास होने के कारण गगा-तट पर एक वट वृक्ष के नीचे बैठ गये। वे ध्यान में मग्न हो गये। तभी उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हो गया और वे वही से मुक्त हुए।

—राजा कर्ण यही के राजा थे, जिनकी दानवीरता की अनेक कथाएँ प्रचलित हैं।

सोमा सती, सती अनन्तमती, कोटिभट श्रीपाल आदि पुराणप्रसिद्ध महापुरुषों का जन्म इसी नगरी में हुआ था।

[यहाँ भगवान महावीर, सुधर्म और केवली जम्बूस्वामी भी पधारे थे। जब केवली सुधर्मा स्वामी यहाँ पधारे थे, तब यहाँ का शासक अजातशत्रु, जो श्रेणिक विम्बसार का पुत्र था, नगे पाव उनके दर्शनो के लिये गया था। अजातशत्रु ने राजगृही से हटाकर चम्पा को अपनी राजधानी बनाया था।]

—यहाँ युधिष्ठिर स० २५५६ (ई० पू० ५४१) में जयपुर के सरदार भधवी श्रीदत्त और उसकी पत्नी सधविन सुरजयी ने वासुपूज्य भगवान का एक मन्दिर बनवाया था। यह अनुश्रुति है कि नाथनगर में जो दिगम्बर जैन मन्दिर है वह वही पूर्वोक्त मन्दिर है।

[यहाँ एक मन्दिर सेठ घनश्यामदास सरावगी द्वारा सवत् २००० में बनवाया गया। इसमें विराजमान प्रतिमाओं पर लेख नहीं है। लाछन है। जनश्रुति है कि ये प्रतिमाये ई० पू० ५४१ में निर्मित मन्दिर की हैं। किन्तु यह भी धारणा है कि पहले ये प्रतिमाये चम्पा नाले के मन्दिर में विराजमान थी। भूकम्प आने से मन्दिर धराशायी हो गया, किन्तु प्रतिमाये सुरक्षित रही। वे प्रतिमाये यहाँ लाकर विराजमान कर दी गई। इनमें चार प्रतिमाये ऋषभदेव भगवान की है जिनके सिर पर विभिन्न शैली की जटाये या जटाजूट है और एक प्रतिमा महावीर भगवान की है। ये प्रतिमाये अत्यन्त प्राचीन हैं। संभव है, कुषाण काल की हो। किन्तु इसमें सदेह नहीं है कि ये प्रतिमाये जिस मन्दिर की थी, वह मन्दिर चम्पापुरी का सबसे प्राचीन और मूल मन्दिर था।]

नाथनगर के वर्तमान मन्दिर में पूर्व और दक्षिण की ओर दो मानस्तम्भ बने हुए हैं। इनमें ऊपर जाने के लिये सीढ़ियाँ भी थी, किन्तु अब बन्द कर दी गई हैं। पहले यहाँ चारो दिशाओं में मानस्तम्भ बने हुए थे किन्तु दो शताब्दी पूर्व भूकम्प में दो मानस्तम्भ गिर गये। अवशिष्ट दोनो मानस्तम्भों का भी जीर्णोद्धार किया गया है। पूर्व वाले मानस्तम्भ के नीचे से एक सुरंग जाती थी जो १८० मील लम्बी थी और वह सम्मेलनशिखर की चन्द्रप्रभ टोंक पर निकलती थी। किन्तु भूकम्प में जमीन घसक जाने से वह स्वतः बन्द हो गई।]

सरकारी कागजातो के अनुसार यह मन्दिर ६०० वर्ष प्राचीन है। नाथनगर से चम्पानाला लगभग एक मील है। इस नाले के किनारे एक दिगम्बर जैन मन्दिर है। इसमें वासुपूज्य स्वामी की एक अन्य प्रतिमा और चरणयुगल अंकित हैं। यही स्थान प्राचीन चम्पा कहलाता है।

मन्दारगिरि—मन्दारगिरि भागलपुर से ३१ मील है। रेल और बस द्वारा जा सकते हैं। दि० जैन धर्म-शाला बोसी स्टेशन के सामने बनी हुई है। यहाँ से क्षेत्र दो मील दूर पड़ता है।

मन्दारगिरि पर चम्पापुर का मनोहर उद्यान था। यह चम्पापुर के बाह्य अंचल में था। इसी वन में भगवान वासुपूज्य ने दीक्षा ली तथा यही पर उन्हें केवलज्ञान हुआ। इस प्रकार यहाँ भगवान के दो कल्याणक हुए थे।

धर्मशाला से एक फर्लांग चलने पर वी० स० २४६१ में निर्मित सेठ तलकचन्द्र कस्तूरचन्द जी वारामती वालो का मन्दिर है। वहाँ से लगभग डेढ़ मील चलने पर तालाब मिलता है, जिसे पापहारिणी कहते हैं। मकर सक्रान्ति में यहाँ वैष्णव लोगो का मेला भरता है। सब लोग स्नान करके पहाड़ पर वासुपूज्य स्वामी के दर्शन करने जाते हैं।

तालाब से आगे चलने पर कई कुण्ड मिलते हैं। पहाड़ की चढ़ाई एक मील से कुछ अधिक है। पहाड़ी के ऊपर बड़ा दिगम्बर जैन मन्दिर है। मन्दिर की दीवारें साढ़े तीन हाथ चौड़ी हैं। वेदी पर भगवान के चरण-चिन्ह बने हुए हैं। मन्दिर के ऊपर डबल शिखर है। बड़े मन्दिर के निकट छोटा शिखरवन्द दिगम्बर जैन मन्दिर है। इसमें तीन प्राचीन चरण-युगल बने हुए हैं। इस मन्दिर से आगे एक शिला के नीचे चरण बने हुए हैं।

हिन्दू जनता में यह विश्वास प्रचलित है कि इसी मन्दराचल के चारो ओर वासुकि नाग को लपेट कर उससे समुद्र मन्थन किया गया था। पहाड़ के चारो ओर वासुकि नाग की रगड़ के चिन्ह भी बड़े कौशल से बना दिये गये हैं।

किन्तु हिन्दू पुराणों—जैसे वाराह पुराण अ० १४३, वामन पुराण अ० ४४, महाभारत अनुशासन पर्व १६ और वन पर्व अ० १६२-१६४ के देखने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि वह मन्दराचल हिमालय में बदरिकाश्रम (वद्रीनाथ) के उत्तर में था। किन्तु पता नहीं, हिन्दू जनता में भागलपुर जिले के इस मन्दारगिरि को मन्दराचल मानने की गलत धारणा कबसे चल पड़ी।

द्विपृष्ठ नारायण, तारक प्रतिनारायण

भरत क्षेत्र में कनकपुर का नरेश सुषेण था। उसके राजदरबार में गुणमजरी नामक एक नर्तकी थी जो अत्यन्त रूपवती और नृत्यकला में पारंगत थी। उसकी ख्याति दूर-दूर तक थी। कई राजा भी उसे चाहते थे। मलय देश के विन्ध्य नगर के राजा विन्ध्यशक्ति ने तो उसे प्राप्त करने के लिए रत्न आदि उपहार पूर्वजन्म में निदान देकर एक दूत को राजा के पास भेजा। दूत ने जाकर राजा से अपने आने का प्रयोजन प्रगट किया—‘महाराज। आपके यहाँ जो नर्तकीरत्न है, उसे महाराज विन्ध्यशक्ति देखना चाहते हैं। उसे मेरे साथ भेज दीजिये। उसे मैं वापस लाकर आपको सौंप दूंगा।’ सुषेण दूत के ये वचन सुनकर बड़ा क्रुद्ध हुआ और दूत का अपमान कर उसे निकाल दिया। दूत ने सारा समाचार अपने स्वामी से कह दिया। विन्ध्यशक्ति सुनकर क्रोधित हो गया और मन्त्रियों से परामर्श करके सेना लेकर युद्ध के लिये चल दिया। दोनों राजाओं में घोर युद्ध हुआ। उसमें सुषेण पराजित हुआ। विन्ध्यशक्ति ने बलात् नर्तकी को छीन लिया। सुषेण अपनी पराजय से बड़ा खिन्न हुआ। उसने सुव्रत जिनेन्द्र के पास जाकर मुनि-दीक्षा लेली। उसने घोर तप किया और शत्रु से बदला लेने का निदान बन्ध करके सन्यासमरण द्वारा प्राणत स्वर्ग में देव हुआ।

महापुर नगर के नरेश वायुरथ ने चिरकाल तक राजलक्ष्मी का भोग किया, फिर उसने सुव्रत जिनेन्द्र के पास मुनि-दीक्षा लेली। अन्त में समाधिमरण कर वह उसी प्राणत स्वर्ग में इन्द्र बना।

द्वारावती नगरी के राजा ब्रह्म की रानी सुभद्रा के गर्भ में प्राणत स्वर्ग का इन्द्र आया। पुत्र उत्पन्न हुआ। उसका नाम अचलस्तोक रक्खा गया। उसका वर्ण कुन्द पुष्प के समान कान्ति वाला था। राजा ब्रह्म की दूसरी रानी उषा के गर्भ में प्राणत स्वर्ग का वह देव आया। पुत्र उत्पन्न हुआ। उसका नाम द्विपृष्ठ नारायण और रक्खा गया। उसके शरीर का वर्ण इन्द्रनील मणि के समान कान्ति वाला था। दोनों भाइयों प्रतिनारायण में अगाध प्रेम था। दोनों राजकुमार आनन्दपूर्वक क्रीड़ा करते थे।

राजा विन्ध्यशक्ति ससार में विभिन्न योनियों में परिभ्रमण करता हुआ भोगवर्धन नगर के राजा श्रीधर की महारानी से तारक नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। जब वह यौवनसम्पन्न हुआ तो उसके शस्त्रागार में देवों द्वारा रक्षित सुदर्शन चक्र उत्पन्न हुआ। चक्र पाकर तारक को बड़ा हर्ष हुआ। उसने चतुरगिणी सेना सजाई और दिग्विजय के लिए निकला। अपनी शक्ति और चक्र के बल से उसने कुछ ही समय में आधे भरत खण्ड को जीत लिया। अपने साम्राज्य में उसके नाम से ही लोग आतंकित हो जाते थे। प्रकृति से वह उग्र था। वह कृष्ण वर्ण का था।

उधर अचल और द्विपृष्ठ दोनों भाइयों का प्रभाव निरन्तर बढ़ता जा रहा था। तारक को उनका यह प्रभाव सहन नहीं हुआ। उसने दोनों भाइयों का निग्रह करने के लिए उपाय सोचा और एक दूत को उनके पास भेजा। दूत अधिकार भरे स्वर में दोनों भाइयों से बोला—सम्पूर्ण शत्रुओं का मान भग करने वाले चक्रवर्ती तारक महाराज ने आदेश दिया है कि तुम्हारे पास जो भीमकाय गन्धहस्ती है, उसे फौरन मेरी सेना में भेज दो, अन्यथा तुम्हारा सिर काट लिया जाएगा और हाथी को मगा लिया जायगा।

दूत के ऐसे उद्धत और गर्वयुक्त वचन सुनकर धीर गम्भीर अचल बलभद्र बोले—‘हाथी क्या, हम तुम्हारे तारक महाराज को बहुत सी भेट देना चाहते हैं। वे अपनी सेना सहित आवें। वे चाहेंगे और वे जीवन से ऊब गये हों तो उनको जीवन के झुझटों से सदा के लिये छुटकारा दे देंगे।’ दूत ने जाकर यह बात नमक मिर्च लगाकर महाराज तारक से कह दी। दूत द्वारा उन राजकुमारों के अपमानजनक उत्तर को सुनकर तारक अभिमानवश मंत्रियों से परामर्श किए बिना क्रोध में फुंकारता हुआ अपनी सेना लेकर उन राजकुमारों को दण्ड देने के लिये चल दिया और जाकर द्वारावती नगरी को घेर लिया। किन्तु अतिशय बलशाली अचल बलभद्र ने अपने पौरुष से शत्रु-सेना को रोक दिया और नारायण द्विपृष्ठ ने भयकर वेग से शत्रु पर आक्रमण किया। तारक और द्विपृष्ठ का भयानक युद्ध हुआ। किन्तु अभिमानी तारक इस युवक को पराजित नहीं कर सका। तब अत्यन्त क्रोधित होकर तारक ने मृत्यु से भी भयकर चक्र को द्विपृष्ठ के ऊपर फेंका। किन्तु सारी सेना यह देखकर विस्मयविमुग्ध रह गई कि वह चक्र नारायण द्विपृष्ठ की प्रदक्षिणा देकर उसकी भुजा पर स्थिर हो गया। द्विपृष्ठ ने उसी चक्र को तारक के ऊपर चला दिया। तारक का सिर गर्दन से कटकर अलग हो गया। उसी समय द्विपृष्ठ सात उत्तम रत्नों और तीन खण्ड पृथ्वी का स्वामी हो गया। वह नारायण मान लिया और अचल को सबने बलभद्र स्वीकार किया। अचल चार रत्नों का स्वामी हुआ। दोनों भाइयों ने दिग्विजय करके सब राजाओं को अपने आधीन किया। फिर वे वासुपूज्य स्वामी की वन्दना की गयी। तब उन्होंने अपने नगर में जनता के हर्षोल्लास के बीच प्रवेश किया।

चिरकाल तक दोनों भाइयों ने राज्य का सुख भोगा। द्विपृष्ठ के मरने पर बड़े भाई अचल को भारी शोक हुआ। वह वासुपूज्य स्वामी के चरणों में पहुँचा और उसने मुनि-व्रत धारण कर लिया। घोर तप कर मुनि अचल को केवलज्ञान प्राप्त हो गया। आयु के अन्त में अघातिया कर्मों का क्षय करके उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया।

चतुर्दश परिच्छेद

,भगवान विमलनाथ

धातकीखण्ड द्वीप मे मेरु पर्वत से पश्चिम की ओर सीता नदी के दक्षिण तट पर रम्यकावती नामक एक देश था। उसके महानगर मे पद्मसेन नामक राजा राज्य करता था। नीति शास्त्र मे स्वदेश और परदेश ये विभाग किये गये है। उनके अर्थ का निश्चय करने मे वह अनुपम था। प्रजा न्याय का कभी उलघन पूर्व भव नहीं करती थी और राजा प्रजा का उलघन नहीं करता था। धर्म, अर्थ और काम ये त्रिवर्ग राजा का उलघन नहीं करते थे और त्रिवर्ग परस्पर एक दूसरे को उलघन नहीं करते थे।

एक दिन राजा पद्मसेन वन मे गया। वहाँ सर्वगुप्त केवली विराजमान थे। राजा ने उनके दर्शन किये और उनका कल्याणकारी उपदेश सुना। इससे उसके मन मे ससार से विराग हो गया। उसने अपने पुत्र पद्मनाभ को राज्य सौंप दिया और मुनि-दीक्षा लेकर तप करने लगा। उसने ग्यारह अगो का अध्ययन करके उन पर दृढ़ प्रत्यय किया। एव सोलह कारण भावनाओं का निरंतर चिन्तन करने से उसे तीर्थंकर प्रकृति का वन्ध हो गया। अन्त समय मे चार आराधनाओं का आराधन करके सहस्रार स्वर्ग मे इन्द्र पद प्राप्त किया।

भरत क्षेत्र मे काम्पित्य नगर के स्वामी कृतवर्मा राज्य करते थे जो ऋषभदेव भगवान के वंशज थे, इक्ष्वाकु वंशी थे। जयश्यामा उनकी पटरानी थी। सहस्रार स्वर्ग का वह इन्द्र जब आयु पूर्ण करके महारानी के गर्भ मे आने वाला था, उससे छह माह पूर्व से भगवान के स्वागत मे इन्द्र की आज्ञा से कुवेर ने

गर्भ कल्याणक काम्पित्य नगर और राजप्रासाद मे रत्न-वर्षा प्रारम्भ कर दी। महारानी एक रात को सुख-निद्रा का अनुभव कर रही थी, तभी उन्होंने रात्रि के अंतिम प्रहर मे सोलह स्वप्न देखे और बाद मे मुखकमल मे प्रवेश करता हुआ एक हाथी देखा। यह ज्येष्ठ कृष्ण दशमी का दिन था और उत्तरा भाद्रपद नक्षत्र था, जब सहस्रार स्वर्ग के उस इन्द्र के जीव ने माता के गर्भ मे प्रवेश किया।

प्रातः काल उठकर महारानी पतिदेव के पास पहुँची और उनसे रात्रि मे देखे हुए स्वप्नों की चर्चा करके उनका फल जानना चाहा। महाराज ने विचार कर कहा-देवी! तुम्हारे गर्भ मे त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर प्रभु अवतरित हुए हैं। रानी स्वप्नों के फल सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुई। देवी और इन्द्रो ने आकर भगवान के गर्भ कल्याणक की पूजा की तथा वे माता-पिता और भगवान को नमस्कार करके वापिस चले गये।

एक दिन काम्पिला के उद्यान मे एक दम्पति ठहरे। लम्बा मार्ग तय करके आये थे। पति-पत्नी दोनों थके हुए थे। लेटते ही गहरी नींद आ गई। प्रातः काल होने पर पति की नींद खुली। उसने आँखें खोलकर देखा तो

उसके आश्चर्य की सीमा नहीं रही, उसके निकट दो स्त्रियाँ थी। दोनों का रूप-रंग, वस्त्र महारानी जयश्यामा आभूषण सभी कुछ एक से थे। पति अपनी वास्तविक पत्नी को पहचानना चाहता था, किन्तु पहचानने का कोई उपाय नहीं था। वह एकपत्नी व्रती था। पर-स्त्री के ससर्ग से अपनी रक्षा चाहता था। किन्तु एक ही रंग रूप की दो स्त्रियों मे से अपनी पत्नी को वह पहचाने कैसे ?

आखिर उसने राजा से न्याय कराने का निश्चय किया।

पथिक दोनों स्त्रियों को लेकर राजदरबार मे पहुँचा। महाराज सुकृतवर्मा सिंहासन पर विराजमान थे। उनके वाम पार्श्व मे उनकी प्राणवल्लभा जयश्यामा बैठी हुई थी। महारानी के मुख पर अलौकिक कान्ति थी। दरबार

लगा हुआ था। पथिक ने महाराज को सविनय प्रणिपात करते हुए निवेदन किया—‘महाराज ! आप न्यायावतार हैं। लोक में आपके निष्पक्ष न्याय की ख्याति फैल रही है। मुझे भी न्याय प्रदान करें।’ महाराज ने पूछा—आयुष्मन् ! तुम्हें क्या कष्ट है ? पथिक हाथ जोड़कर बोला—प्रभु ! मैं परदेशी हूँ। मैं कल रात को कम्पिला के बाह्य उद्यान के मठ में ठहरा था। साथ में मेरी पत्नी थी। किन्तु प्रातःकाल उठने पर पत्नी जैसी ही रंग रूप वाली एक और स्त्री को देख कर मैं निश्चय नहीं कर पा रहा हूँ कि मेरी वास्तविक पत्नी कौन सी है। राजन ! मेरा न्याय कीजिये और मेरी पत्नी मुझे दिला दीजिये। पर-स्त्री मेरे लिये भगिनी और सुता के समान है।

राजा ने दोनों स्त्रियों को देखा। दोनों में तिल मात्र भी अन्तर नहीं था। दरवारियों ने भी देखा। सभी हैरान थे। राजा भी कोई निर्णय नहीं कर पा रहे थे। महारानी जयश्यामा ने महाराज की मन स्थिति को भाप लिया। वे बोली—‘आर्यपुत्र ! यदि आप अनुमति दें तो मैं इन दोनों स्त्रियों का न्याय कर दूँ।’ महाराज सहर्ष बोले—‘देवी ! न्याय करके अवश्य मेरी सहायता करिये।’ रानी ने क्षणभर में परिस्थिति भाँप ली। वे समझ गई कि इनमें एक देवी है अथवा विद्याधरी है, जो बहुरूपिणी विद्या जानती है। उसने अपने विद्या-बल से यह समान रूप बना लिया है। यह निश्चय होते ही वे बोली—अपने स्थान पर ही खड़ी रह कर तुम दोनों में से जो सिंहासन को छूलेगी, नदी इस युवक की पत्नी मान ली जायगी।

असली पत्नी इस फैसले से भयभीत हो गयी। निराशा के कारण उसके नेत्रों में आसू छलछला आये। किन्तु मायाविनी ! उसने बिना विलम्ब किये अपना हाथ बढ़ाया और राजसिंहासन का स्पर्श कर लिया। महारानी ने निर्णय दिया—युवक ! तुम्हारी पत्नी तुम्हारे निकट खड़ी है। सिंहासन का स्पर्श करनेवाली मायाविनी है। मायाविनी सुनकर बड़ी लज्जित हुई। उपस्थित जनो ने महारानी के इस नीर-क्षीर-न्याय की तुमुल हर्ष के साथ सराहना की।

जन्म-कल्याणक—जबसे भगवान गर्भ में आये थे, परिवार और जनता में हर्ष की वृद्धि हो रही थी। नौ माह पूर्ण होने पर माघ शुक्ला चतुर्दशी के दिन अहिर्बुध्न योग में रानी जयश्यामा ने तीन ज्ञान के धारी, तीन लोक के स्वामी भगवान को जन्म दिया। देवों और इन्द्रों ने आकर भगवान को सुमेरु पर्वत पर लेजाकर उनका जन्मभिषेक किया। इन्द्र ने उनका नाम विमलनाथ रक्खा। उनके शरीर की कान्ति स्वर्ण के समान थी। उनके पैर में सूअर का चिह्न था।

भगवान का कुमार काल व्यतीत होने पर उनका विवाह हुआ और राज्याभिषेक हुआ। उनके सुशासन से जनता की सुख-समृद्धि में निरन्तर अभिवृद्धि होती रही। एक दिन भगवान विमलनाथ हेमन्त ऋतु में प्रकृति की शोभा का आनन्द ले रहे थे। चारों ओर वर्ष पड़ रही थी। किन्तु तभी देखा कि सूर्य के दीक्षा-कल्याणक ताप से वर्ष पिघलने लगे। वात साधारण थी। किन्तु प्रभु के मन में इस घटना की प्रतिक्रिया दूसरे ही रूप में हुई। वे विचार करने लगे—वर्ष जमी हुई थी, अब वह पिघल रही है। यह क्षणभंगुर है। सभी कुछ क्षणभंगुर है। इन्द्रिय-भोग भी क्षणभंगुर है और मैं मोहवश अब तक इनमें उलझा हुआ हूँ। मुझे तो स्थाई सुख पाना है। इन्द्रिय-सुख का त्याग करके ही वह मिल सकेगा।

भगवान इस प्रकार विचार कर ही रहे थे, तभी लौकान्तिक देवों ने आकर उनका स्तवन किया और उनके विचारों की सराहना की। देवों ने आकर भगवान के दीक्षा कल्याणक के समय होने वाले अभिषेक का उत्सव किया। फिर देवों द्वारा घिरे हुए भगवान देवदत्ता नाम की पालकी में आरूढ़ होकर सहेतुक वन में गये और वहाँ दो दिन के उपवास का नियम लेकर माघ शुक्ला चतुर्थी के दिन सायंकाल के समय छब्बीसवें उत्तरा भाद्रपद नक्षत्र में एक हजार राजाओं के साथ दीक्षा लेली। भगवान को उसी समय मन पर्ययज्ञान उत्पन्न होगया।

भगवान आहार के निमित्त नन्दनपुर नगर में पहुँचे। वहाँ राजा कनकप्रभ ने उन्हें आहार-दान देकर पचाश्चर्य प्राप्त किये। भगवान आहार के पश्चात् विहार कर गये। वे घोर तपस्या करने लगे। इस प्रकार तपस्या करते हुए जब तीन वर्ष बीत गये, तब वे अपने दीक्षा-वन में दो दिन के उपवास का नियम लेकर केवलज्ञान कल्याणक एक जामुन के वृक्ष के नीचे ध्यानमग्न हो गये। तभी उन्हें माघ शुक्ला षष्ठी के दिन सायंकाल के समय अपने दीक्षा-ग्रहण के नक्षत्र में चार घातिया कर्मों का नाश करके केवलज्ञान

प्राप्त हो गया। तभी इन्द्र और देव आये। देवी ने अष्ट प्रातिहार्यों का वैभव प्रगट किया। समवसरण की रचना की। भगवान गन्धकुटी में कमलासन पर विराजमान हुए। उसी समय उनकी दिव्य ध्वनि खिरी। यही उनका धर्म-चक्र-प्रवर्तन कहलाया।

भगवान का परिकर—भगवान के मन्दर आदि पचपन गणधर थे। ११०० पूर्वधारी, ३६५३० शिक्षक, ४८०० अवधिज्ञानी, ५५०० केवलज्ञानी, ६००० विक्रिया ऋद्धिधारी, ५५०० मन पर्ययज्ञानी, ३६०० वादी थे। इस प्रकार उनके सध में कुल मुनि ६८००० थे। पद्मा आदि १०३००० अजिकाये थी। २००००० धावक और ४००००० श्राविकाये थी।

निर्वाण कल्याणक—भगवान ने आर्यक्षेत्रों में विहार करके धर्म का उपदेश दिया। जब एक माह की आयु श्वशिष्ट थी, तब वे सम्मेदशिखर पहुँचे और एक माह का योग-निरोध किया। आठ हजार छह सौ मुनियों के साथ प्रतिमा योग धारण किया। उन्होंने आपाढ कृष्णा अष्टमी के दिन उत्तरा भाद्रपद नक्षत्र में प्रातःकाल के समय मोक्ष प्राप्त किया। तभी सौधर्म आदि इन्द्रो और देवों ने आकर भगवान का अन्त्येष्टि सस्कार किया और भगवान की स्तुति की।

उसी समय से भगवान की यह निर्वाण-तिथि-आपाढ कृष्णा अष्टमी लोक में कालाष्टमी के नाम से पूज्य हो गई।

यक्ष-यक्षिणी—भगवान का सन्मुख यक्ष और वैरोटनी यक्षिणी है।

कम्पिला—भगवान विमलनाथ की जन्म-नगरी कम्पिला उत्तर प्रदेश के फर्रुखाबाद जिले में कायमगज तहसील में एक छोटा-सा गाँव है। यह उत्तर रेलवे की अछनेरा-कानपुर शाखा के कायमगज स्टेशन से पाँच मील दूर है। सड़क पक्की है। स्टेशन पर तागे और वस्ती में वसे मिलती है।

इस नगरी में भगवान विमलनाथ के गर्भ, जन्म, दीक्षा और केवलज्ञान ये चार कल्याणक हुए थे। जब सौधर्मन्द्र ने सुमेरु पर्वत पर भगवान के चरण-तल में शूकर-चिह्न को देखा तो उनका चिह्न शूकर घोषित कर दिया। रुद्धिप्रिय लोगों ने इस चिह्न के कारण कम्पिला को शूकर क्षेत्र घोषित कर दिया। भगवान की प्रथम कल्याणी वाणी इसी स्थान पर प्रगट हुई थी।

आद्य तीर्थंकर ऋषभदेव, पार्श्वनाथ, महावीर तथा अन्य तीर्थंकरों का समवसरण यहाँ आया था।

कम्पिला भारत की प्राचीन सांस्कृतिक नगरी थी। (भगवान ऋषभदेव ने जिन ५२ जनपदों की रचना की थी, उनमें एक पांचाल नाम का जनपद भी था, उसी पांचाल जनपद के दो भाग हो गये थे—अहिच्छत्र और कम्पिला। अहिच्छत्र उत्तर पांचाल की राजधानी थी और कम्पिला दक्षिण पांचाल की। महाभारत काल में उत्तर पांचाल के शासक द्रोण थे और दक्षिण पांचाल के शासक द्रुपद थे। यही पर पाण्डु-पुत्र अर्जुन ने लक्ष्य-वेध कर द्रुपद सुता द्रौपदी के साथ विवाह किया था।

इस कम्पिला या काम्पिल्य के निकट पिप्पलगाव में रत्नप्रभ राजा ने एक विशाल सरोवर और जिनमन्दिर का निर्माण कराया था। आज कल वह पिप्पलगाव कम्पिला से १६-१७ मील दूरी पर अलीगज तहसील में है।

श्रीमद्भागवत में विष्णु भगवान के २२ अवतारों का वर्णन मिलता है। उसमें द्वितीय अवतार का नाम बराहावतार अथवा शूकरावतार बताया गया है। हिन्दू जनता उस क्षेत्र को, जहाँ यज्ञ पुरुष अर्थात् विष्णु भगवान ने अवतार लिया था, शूकर क्षेत्र मानती है। शूकर क्षेत्र की पहचान आजकल सोरो से की जाती है। यह स्थान कासगज (जिला एटा) से ६ मील है। विविध तीर्थकल्प के अनुसार जनता ने विमलनाथ के शूकर चिह्न के कारण कम्पिला को शूकर क्षेत्र मान लिया था। किन्तु आजकल सोरो को शूकर क्षेत्र माना जाता है। ऐसा लगता है, विमलनाथ के शूकर चिह्न और विष्णु के शूकरावतार में एकरूपता है। हिन्दू पुराणों में तथा श्रीमद्भागवत (तृतीय स्कन्ध अध्याय चौदह) में शूकरावतार की कथा में बताया गया है कि जब पृथ्वी रसातल को चली गई, तब विष्णु भगवान ने उसके उद्धार के लिए शूकरावतार लिया।

जैन पुराण ग्रन्थों में विमलनाथ भगवान का चरित्र वर्णन करते हुए बताया है कि उस समय पाप की वृद्धि गई थी। भगवान विमलनाथ ने पापी पुरुषों का उद्धार किया।

उक्त दोनों कथाओं में गहराई से भाँक कर देखें तो कोई अन्तर प्रतीत नहीं होगा। हिन्दू पुराणों में आल-रिक शैली द्वारा कथन किया गया है। यदि अलङ्कार योजना को निकाल दिया जाय तो हिन्दू और जैन पुराणों के मनो में एकरूपता ही मिलेगी और तब हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचने में कोई बाधा प्रतीत नहीं होगी कि कम्पिला वास्तव में शूकर क्षेत्र है, भगवान विमलनाथ ही वस्तुतः बराहावतार हैं और उन्होंने ही पाप-पक में डूबती हुई वी अर्थात् पृथ्वी पर रहने वालों का उद्धार किया।

धर्म बलभद्र, स्वयम्भू नारायण और मधु प्रतिनारायण

भरत क्षेत्र के पश्चिम विदेह में मित्रनन्दी नामक एक राजा राज्य करता था। वह राजा बड़ा प्रतापी था। उसने अपने बाहुबल द्वारा अनेक देश जीत लिए थे। उससे प्रजा अत्यन्त सन्तुष्ट थी। एक दिन सुव्रत नामक मुनिराज उपदेश सुनकर राजा को वैराग्य हो गया। उसने मुनि-व्रत धारण कर लिए। उसने घोर तपस्या की। अन्त में माधिमरण धारण कर लिया। मरकर वह अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र हुआ।

द्वारावती नगरी के राजा भद्र की रानी का नाम सुभद्रा था। वह अहमिन्द्र आयु पूर्ण करके सुभद्रा के गर्भ अवतरित हुआ। उत्पन्न होने पर उसका नाम धर्म रक्खा गया।

कुणाल देश में श्रावस्ती नगर था। वहाँ के राजा का नाम सुकेतु था। कुसगति के कारण वह कुव्यसनो में नष्ट रहने लगा। वह अत्यन्त कामी था। दिन रात वह जुआ खेलता रहता था। जुआ के कारण वह अपनी स्त्री और राज्य तक हार गया। जब उसका सब कुछ चला गया तो वह मन में अत्यन्त खिन्न होकर सुदर्शनाचार्य के पास पहुँचा। वहाँ उनका उपदेश सुनकर वह मुनि बन गया। किन्तु उसका मन निर्मल नहीं हो सका। वह शोक के कारण आहार का त्याग करके तप करने लगा। उसने बहुत समय तक तप किया। मृत्यु के समय उसने निदान किया कि स तप के द्वारा मुझे कला, गुण, चतुराई और बल प्राप्त हो। मरकर वह लान्तव स्वर्ग में देव हुआ। वहाँ से आयु पूरी होने पर द्वारावती के राजा भद्र की द्वितीय पत्नी पृथ्वी रानी के स्वयम्भू नामक पुत्र हुआ। दोनों भाइयों में बड़ा मत था।

राजा सुकेतु से जुआ में बलि नामक राजा ने राज्य जीता था। वह मरकर, रत्नपुर नगर में राजा मधु हुआ। यह पूर्व जन्म का सस्कार ही था कि राजा मधु के नाम से स्वयम्भू को चिढ़ थी। एक बार किसी राजा ने राजा मधु के लिए कोई उपहार भेजा, किन्तु महाराज स्वयम्भू ने उसे दूत को मारकर छीन लिया। नारद ने यह समाचार मधु को बताया। इस अपमानजनक समाचार को सुनते ही मधु को बड़ा क्रोध आया। स्वयम्भू को दण्ड देने के अभिप्राय से मधु विशाल सेना लेकर द्वारावती की ओर चल दिया। उधर दोनों भाई युद्ध के लिए पहले से ही तैयार बैठे थे। दोनों पक्षों में भयकर युद्ध हुआ। मधु स्वयम्भू से युद्ध करने लगा। मधु ने कुपित होकर स्वयम्भू के ऊपर यमराज के समान भयकर चक्र फेंका। मधु अब तक भरत क्षेत्र के आधे भाग का स्वामी था। चक्र, गदा, त्रिशूल आदि दैवी अस्त्र उसके पास थे। किन्तु अब उसके पुण्य का कोष रीता हो चुका था। चक्र तीव्रगति से स्वयम्भू की ओर आया और प्रदक्षिणा देकर उसकी दाहिनी भुजा पर आकर टिक गया। राजा स्वयम्भू ने क्षुब्ध होकर उसी चक्र से मधु का सिर काट दिया। तब स्वयम्भू तीनों खण्डों का स्वामी बन गया। बलभद्र और नारायण दोनों भ्राता आनन्दपूर्वक राज्य करने लगे। आयु पूर्ण होने पर नारायण की मृत्यु हो गई। भ्रातृ-शोक से बलभद्र धर्म के हृदय को बड़ा आघात लगा। उसे ससार से ही वैराग्य हो गया। वह भगवान विमलनाथ की शरण में पहुँचा और मुनि-दीक्षा ले ली। उसने घोर तपस्या की और अन्त में कर्मों का क्षय करके वह मुक्त हो गया।

पचदश परिच्छेद

भगवान् अनन्तनाथ

घातकी खण्ड द्वीप के पूर्व मेरु से उत्तर की ओर अरिष्ट नामक एक नगर था। उस नगर के राजा का नाम पद्मरथ था। उसने दीर्घकाल तक सासारिक भोग भोगे। एक दिन वह स्वयंप्रभ जिनेन्द्र के चरणों में पहुँचा। वहाँ उसने जिनेन्द्र प्रभु का उपदेश सुना। उसके मन में वैराग्य की भावनाये उदित हुई, राज्य, पुत्र भव, परिवार और शरीर के प्रति उसकी आसक्ति जाती रही। उसने अपने पुत्र धनरथ को बुलाकर राज्य सौंप दिया और वह मुनि हो गया। उसने घोर तप किया, ग्यारह अङ्गों का अध्ययन किया और निरन्तर सोलह कारण भावनाओं का चिन्तन किया। फलतः उसे तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध हो गया। अन्त में सल्लेखना धारण करके शरीर छोड़ा और अच्युत स्वर्ग के पुष्पोत्तर विमान में इन्द्र पद प्राप्त किया।

अयोध्या में इक्ष्वाकुवंशी काश्यप गोत्रीय राजा सिंहसेन राज्य करते थे। उनकी महारानी का नाम जयश्यामा था। देवों ने उनके घर पर रत्नवृष्टि की। एक दिन महारानी ने रात्रि के अन्तिम प्रहर में सोलह शुभ स्वप्न देखे। प्रातः होने पर उन्होंने अपने पति से उन स्वप्नों का फल पूछा। पति ने विचार कर उत्तर दिया—देवी! तुम्हारे गर्भ में त्रिलोकपूज्य तीर्थंकर अवतार लेंगे। उस दिन कार्तिक कृष्णा प्रतिपदा और रेवती नक्षत्र था, जब अच्युत स्वर्ग से इन्द्र का जीव अपनी आयु पूर्ण करके उनके गर्भ में आया। उसी समय देवों ने गर्भ कल्याणक का अभिषेक करके वस्त्र, माला और आभूषणों से महाराज सिंहसेन और महारानी जयश्यामा की पूजा की।

जन्म कल्याणक—गर्भ सुख से बढ़ने लगा। नौ माह व्यतीत होने पर माता ने ज्येष्ठ कृष्णा द्वादशी के दिन पूषा योग में पुण्यशाली पुत्र उत्पन्न किया। उसी समय इन्द्रो और देवों ने आकर पुत्र का सुमेरु पर्वत पर अभिषेक करके जन्म कल्याणक महोत्सव मनाया। इन्द्र ने पुत्र का नाम अनन्तनाथ रक्खा। उनका रंग देदीप्यमान सुवर्ण के समान था। उनके पैर में सेही का चिन्ह था।

बालक क्रम से वृद्धि को प्राप्त हुआ। जब भगवान् धौवन अवस्था को प्राप्त हुये, तब पिता ने पुत्र का विवाह कर दिया और उसे राज्य-भार सौंप दिया। राज्य करते हुए जब बहुत काल बीत गया, तब एक दिन उल्का-प्रातः देखकर उन्हें ससार से वैराग्य हो गया। वे ससार की अनित्य दशा को देखकर विचार करने लगे—इस अनित्य ससार में स्थिर केवल अपना आत्म-स्वरूप है। मैं अवतक अनित्य के पीछे भागता रहा, कभी आत्मस्वरूप की प्राप्ति का प्रयत्न नहीं किया। वे ऐसा विचार कर ही रहे थे, तभी लौकान्तिक देव आये। उन्होंने भगवान् की वन्दना स्तुति की और उनके विचारों की सराहना की।

भगवान् ने अपने पुत्र अनन्तविजय को राज्य-भार सौंप दिया और देवोपनीत सागरदत्त ४ पालकी में विराजमान होकर सहेतुक वन में गये। वहाँ वेला का नियम लेकर ज्येष्ठ कृष्णा द्वादशी के दिन सायंकाल के समय एक हजार राजाओं के साथ दीक्षित हो गये। दीक्षा लेते ही उन्हें मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया, उन्होंने सा आधिक्य समय धारण कर लिया और ध्यानलीन हो गये। दो दिन पश्चात् वे आहार के लिये साकेतपुरी में पधारे। वहाँ

स्वर्ण के समान कान्ति वाले विशाख नामक राजा ने भगवान को आहार देकर असीम पुण्य उपार्जन किया। देवों ने पचाश्चर्य करके उसकी सराहना की। आहार लेकर भगवान विहार कर गये।

केवलज्ञान कल्याणक—आपने दो वर्ष तक तपश्चरण किया, तब आपको अश्वत्थ वृक्ष के नीचे उसी सहेतुक वन में चैत्र कृष्णा अमावस्या को सायंकाल के समय रेवती नक्षत्र में सकल ज्ञेय-ज्ञायक केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। उसी समय देवों ने ज्ञान कल्याणक की पूजा की। इन्द्र की आज्ञा से कुवेर ने समवसरण की रचना की। उसमें सिंहासन पर विराजमान होकर भगवान को दिव्य ध्वनि बिखरी और भगवान ने धर्म-चक्र-प्रवर्तन किया।

भगवान का सघ—भगवान के सघ में जय आदि ५० गणधर थे। १००० पूर्वधारी, ३२०० वादी, ३६५०० शिक्षक, ४३०० अवधिज्ञानी, ५००० केवलज्ञानी, ८००० विक्रिया ऋद्धिधारी, ५००० मन पर्ययज्ञानी, इस प्रकार कुल ६६००० मुनि उनकी पूजा करते थे। सर्वश्री आदि १०८००० आर्यिकायें थीं। २००००० थावक और ४००००० श्राविकायें थीं।

निर्वाण कल्याणक—भगवान अनन्तनाथ ने बहुत समय तक विभिन्न देशों में विहार करके भव्य जीवों को अपने उपदेश द्वारा सन्मार्ग पर लगाया। अन्त में सम्मेद शिखर पर जाकर उन्होंने विहार करना छोड़ दिया और एक माह का योग-निरोध कर छह हजार एक सौ मुनियों के साथ प्रतिमा योग धारण कर लिया तथा चैत्र कृष्णा अमावस्या के दिन रात्रि के प्रथम भाग में निर्वाण प्राप्त किया। देवों ने आकर भगवान का अन्तिम सस्कार किया और पूजा की।

यक्ष-यक्षिणी—भगवान अनन्तनाथ के सेवक यक्ष का नाम पाताल और यक्षिणी का नाम अनन्तमती था।

अनन्त चतुर्दशी व्रत

सोमशर्मा नामक एक ब्राह्मण था। वह रोगी, अपाहिज और दरिद्री था। वह देश-विदेश में फिरा, किन्तु जहाँ जाता, सब जगह उसे फटकार ही मिलती थी। कोई उसका आदर नहीं करता था और न उसे कोई वन ही देता था। एक दिन भगवान अनन्तनाथ का समवसरण देखकर और वहाँ राजा, रक्त, देव और मनुष्यों को जाते देखकर वह भी समवसरण में चला गया। वहाँ उसने भगवान का अद्भुत वैभव देखा। इन्द्र भगवान के ऊपर चवर ढोल रहे थे। वृक्षों पर पट्ट ऋतुओं के फल-फूल लहलहा रहे थे। गेर और हिरन, सर्प-नेवला, विल्ली-चूहा जैसे जाति-विरोधी जीव बड़े प्रेम से पास-पास बैठे हुए थे। देवों और मनुष्यों की अपार भीड़ लगी हुई थी। चारों ओर शान्ति और प्रेम का साम्राज्य था। समवसरण की अद्भुत महिमा को देखकर सोमशर्मा साहस करके आगे बढ़ा और भगवान को नमस्कार करके विनयपूर्वक बोला—भगवन् ! मैं बड़ा भाग्यहीन, दीन, दरिद्री हूँ, रोगी हूँ, तिरस्कृत हूँ। कहीं पेट भरने लायक भीख भी नहीं मिलती। कोई ऐसा उपाय बताइये, जिससे मेरे कष्ट दूर हो जायें।

उसकी प्रार्थना सुनकर भगवान के मुख्य गणधर जय बोले—भव्य ! तुम भाद्रपद शुक्ला १४ को स्नान करके शुद्ध वस्त्र पहन कर भगवान अनन्तनाथ का चौदह कलशों से अभिषेक करो, पूजन करो। उपवास रखो। रात्रि को भगवान का कीर्तन करो। इस प्रकार चौदह वर्ष तक उपवास आदि करो। जब चौदह वर्ष समाप्त हो जायें, तब मन्दिर में छत्र, चैवर, सिंहासन, कलश आदि चौदह वस्तुयें चढ़ाकर अनन्त चतुर्दशी व्रत का उद्घाटन करो। यदि उद्घाटन की शक्ति न हो तो दूने व्रत करो अर्थात् अठारह वर्ष तक इसी प्रकार व्रत करो। अन्त समय में समाधिमरण धारण करो। इससे तुम्हारी दरिद्रता, रोग, शोक सब दूर हो जायेंगे।

सोमशर्मा ने गणधरदेव के कथनानुसार किया। मरकर वह चतुर्थ स्वर्ग में महा विभूतिवान् देव हुआ। आयु पूर्ण होने पर विजय नगर के सम्राट् मनोकुम्भ का पुत्र अरिजय हुआ। यह राजकुमार अत्यन्त रूपवान्, गुणवान् और बलवान् था और यह विपुलाचल पर भगवान् महावीर के दर्शनो के लिये भी गया था।

सुप्रभ बलभद्र, पुरुषोत्तम नारायण और मधुसूदन प्रतिनारायण

भगवान् अनन्तनाथ के समय में चौथे बलभद्र, नारायण और प्रतिनारायण हुए।

पोदनपुर नरेश वसुषेण के पांच सौ रानियाँ थी। उनमें नन्दा पटरानी थी। महाराज उसके प्रति अत्यन्त अनुरक्त थे। मलय देश का स्वामी चण्डशासन वसुषेण का मित्र था। वह अपने मित्र से मिलने के लिये पोदनपुर आया। एक दिन नन्दा के ऊपर उसकी दृष्टि पड़ गई। उसे देखते ही वह नन्दा के ऊपर मोहित हो गया और उसका अपहरण करके ले गया। वसुषेण चण्डशासन के मुकाबिले अपने आप को असमर्थ पाता था। अतः वह मन मसोस कर रह गया, किन्तु वह नन्दा को न भूल सका। तब उसे विवेक जागृत हुआ। वह श्रेय नामक गणधर के पास जाकर दीक्षित हो गया। उसने धोर तप किया और यह निदान किया कि यदि मेरी इस तपस्या का कुछ फल है तो मैं ऐसा राजा बनूँ जिसकी आज्ञा का उल्लंघन कोई न कर सके। वह सन्यास मरण कर सहस्रार स्वर्ग में महा विभूतिसम्पन्न देव हुआ।

जम्बू द्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में नन्दन नामक एक नगर था। उसका अधिपति महाबल अत्यन्त प्रतापी और प्रजावत्सल राजा था। वह बड़ा दानी और दीनवत्सल था। एक दिन उसे भोगो से असुखि हो गई। उसने अपने पुत्र को राज्य सौंपकर प्रजापाल नामक अर्हन्त के समीप समय धारण कर लिया और तप करने लगा। अन्त में सन्यास धारण कर मरण को प्राप्त हुआ और सहस्रार स्वर्ग में देव हुआ।

बलभद्र, नारायण, और प्रतिनारायण—द्वारावती नगर के स्वामी राजा सोमप्रभ की रानी जयवन्ती के गर्भ में सहस्रार स्वर्ग से महाबल का जीव आयु पूर्ण होने पर आया। उत्पन्न होने पर उसका नाम सुप्रभ रखा गया। वह सर्वप्रिय था। उसका वर्ण गौर था।

उसी राजा की दूसरी रानी के गर्भ में वसुषेण का जीव आया। उत्पन्न होने पर उसका नाम पुरुषोत्तम रखा गया। इसका वर्ण कृष्ण था।

दोनों भाइयों में अत्यन्त स्नेह था। ज्योतिषियों ने बताया था कि ये दोनों भाई बलभद्र और नारायण हैं और ये भरत क्षेत्र के आगे भाग पर शासन करेंगे। सब राजा इनके आज्ञानुवर्ती होंगे।

चण्डशासन का जीव विभिन्न योनियों में भटकता हुआ काशी देश की वाराणसी नगरी का स्वामी मधुसूदन नाम का राजा हुआ। वह प्रचण्ड तेज का धारक था, शत्रु इसके नाम से ही भयभीत हो जाते थे। एक बार नारद धूमते हुए वाराणसी में उसके दरबार में पहुँचे। मधुसूदन ने उनकी अभ्यर्थना की और बैठने के लिये उच्चासन दिया। दोनों में इधर-उधर की बातचीत होने लगी। प्रसंगवश नारद ने सुप्रभ और पुरुषोत्तम के वैभव की चर्चा की। सुनते ही असहिष्णु मधुसूदन ईर्ष्या से जल उठा। उसने अहंकारपूर्वक उन दोनों राजकुमारों को आदेश भेजा कि तुम लोग मेरे लिये हाथी, रत्न आदि कर-स्वरूप भेजो।

मधुसूदन की यह अनधिकार चेष्टा देखकर दोनों भाइयों को अत्यन्त क्रोध आया और उन्होंने दूत को अपमानित कर निकाल दिया। जब मधुसूदन ने यह समाचार सुना तो वह क्रुपित होकर विशाल सेना के साथ दोनों राजकुमारों को दण्ड देने के अभिप्राय से चल दिया। दोनों भाई भी अपनी सेना लेकर चल पड़े। दोनों सेनाओं में भयकर लड़ाई होने लगी। मधुसूदन के साथ पुरुषोत्तम का युद्ध होने लगा। जब मधुसूदन ने देखा कि शत्रु किसी प्रकार दब नहीं पा रहा है तो उसने प्रबल वेग से पुरुषोत्तम के ऊपर चक्र फेंका। जिस चक्र ने मधुसूदन को कभी धोखा नहीं दिया था, आज वह भी काम न आ सका। चक्र पुरुषोत्तम की प्रदक्षिणा देकर उनकी भुजा पर ठहर गया। पुरुषोत्तम ने उसी चक्र को मधुसूदन पर चला दिया, जिससे उसके प्राण-पखेरू उड़ गये। दोनों भाई भरत क्षेत्र के तीन खण्ड के अधिपति हो गये और वे बलभद्र एवं नारायण कहलाये।

बहुत काल तक दोनों ने राज्य-सुख का अनुभव किया। एक दिन छोटे भाई पुरुषोत्तम की मृत्यु हो गई। इस घटना से सुप्रभ अति शोक सतप्त हो गये। वे एक बार सोमप्रभ जिनेन्द्र के दर्शनो को गये। उन्होंने बलभद्र को समझाया। फलतः बलभद्र ने उन्हीं के चरणों में दीक्षा ले ली। उन्होंने घोर तपस्या करके कर्मों का क्षय कर दिया और मोक्ष प्राप्त कर लिया।



षोडस परिच्छेद

भगवान धर्मनाथ

धातकी खण्ड द्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में वत्स नामक एक देश था। उसमें सुसीमा नामक एक नगर था। वहाँ राजा दशरथ राज्य करता था। उसके पास बुद्धि और बल था, भाग्य उसके पक्ष में था। इसलिये उसने तमाम शत्रुओं को अपने वश में कर लिया था। अतः वह शान्तिपूर्वक राज्य करता था। एक बार
पूर्व भव वैशाख शुक्ला पूर्णिमा को सब लोग उत्सव मना रहे थे। तभी चन्द्रग्रहण पड़ा। उसे देखकर राजा का मन भोगों से एकदम उदास हो गया। उसने अपने पुत्र महारथ का राज्याभिषेक करके सयम धारण कर लिया। उसने ग्यारह अंगों का अध्ययन किया, सोलह कारण भावनाओं का सतत चिन्तन किया, जिससे उसे तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होगया। अन्त में समाधिमरण करके वह सर्वार्थ सिद्धि विमान में अहमिन्द्र हुआ। वहाँ उसने तैत्तिरीय सागर तक सुख का भोग किया।

रत्नपुर नगर के अधिकारी महाराज भानु थे। वे कुखशी और काश्यपगोत्री थे। उनकी महादेवी का नाम सुप्रभा था। देवों ने भगवान के गर्भावतार से छह माह पूर्व से रत्नवृष्टि आरम्भ की। महारानी ने वैशाख शुक्ला त्रयोदशी को रेवती नक्षत्र में प्रातः काल के समय सोलह स्वप्न देखे और एक विशाल
गर्भ कल्याणक हाथी मुख में प्रवेश करते हुए देखा। प्रातः काल उठकर वे अपने पति के पास पहुँची। उन्होंने रात में देखे हुए स्वप्न सुनाकर उनमें इन स्वप्नों का फल पूछा। महाराज ने अवधिज्ञान से देखकर बताया—देवी! तुम्हारे गर्भ में तीर्थंकर भगवान आने वाले हैं। सुनकर महारानी को बड़ा हर्ष हुआ। तभी सर्वार्थ सिद्धि का अहमिन्द्र आयु पूर्ण होने पर महारानी के गर्भ में अवतीर्ण हुआ। इन्द्रो ने आकर गर्भ कल्याणक का उत्सव किया।

जन्म कल्याणक—नौ माह व्यतीत होने पर माघ शुक्ला त्रयोदशी को पुष्य नक्षत्र में महारानी ने तीन ज्ञान का धारक पुत्र प्रसव किया। उसी समय इन्द्रो और देवों ने आकर सद्य जात बालक को सुमेरु पर्वत पर ले जाकर क्षीरसागर के जल से जन्माभिषेक किया और भगवान का जन्म कल्याणक महोत्सव मनाया। इन्द्र ने बालक का नाम धर्मनाथ रक्खा। उनके पैर में वज्र का चिह्न था।

जब भगवान यौवन दशा में पहुँचे, तब पिता ने उनका विवाह कर दिया और राज्याभिषेक कर दिया। बहुत समय तक उन्होंने राज्य-सुख भोगा। एक दिन उत्कापात देखकर उन्हें वैराग्य हो गया। उन्हें अब तक का

जीवन भोगों में व्यतीत करने का बड़ा पश्चात्ताप हुआ। उन्होंने निश्चय कर लिया कि अब दीक्षा कल्याणक क्षणभर भी इस अमूल्य जीवन को सासारिक भोगों में नष्ट न करके आत्म कल्याण करूँगा। प्रभु का ऐसा निश्चय जानकर लौकान्तिक देव वहाँ आये और भगवान की वन्दना करके प्रभु के विचारों को सराहते हुए अपने स्थान को वापिस चले गये। भगवान ने अपने पुत्र सुधर्म को राज्य देकर नागदत्ता नामक पालकी में आरुढ़ होकर दीक्षा के लिये गमन किया। उन्होंने दो दिन के उपवास का नियम लेकर माघ शुक्ला त्रयोदशी के दिन सायंकाल के समय पुष्य नक्षत्र में एक हजार राजाओं के साथ दीक्षा लेली। दीक्षा लेते ही उन्हें मनःपर्यय ज्ञान उत्पन्न हो गया।

वे आहार के लिये पाटलिपुत्र नामक नगरी में गये। वहाँ धन्यषेण नामक राजा ने उत्तम पात्र के लिये आहार दान देकर पचाश्चर्य प्राप्त किये।

केवलज्ञान कल्याणक—भगवान ने एक वर्ष तक तपस्या की। फिर वे विहार करते हुए दीक्षा वन में पधारे। वहाँ सप्तच्छद वृक्ष के नीचे बैठकर और दो दिन के उपवास का नियम लेकर योग धारण कर लिया और पौष शुक्ला पूर्णिमा के दिन सायंकाल के समय पुण्य नक्षत्र में उन्हें लोकालोक प्रकाशक केवलज्ञान प्रगट हुआ। देवों ने आकर केवलज्ञान कल्याणक की पूजा की।

इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने समवसरण की रचना की। वहाँ गन्धकुटी में सिंहासन पर विराजमान होकर भगवान की प्रथम दिव्य ध्वनि खिरी और इस तरह उन्होंने रतनपुरी में धर्म-चक्र-प्रवर्तन किया।

भगवान का परिकर—भगवान धर्मनाथ के सघ में अरिष्टसेन आदि ४३ गणधर थे। ६११ पूर्वधर, ४०७०० शिक्षक, ३६०३ अवधिज्ञानी, ४५०० केवलज्ञानी, ७००० विक्रिया ऋद्धिधारी, ४५०० मन पर्ययज्ञानी और २८०० वादी थे। इस प्रकार उनके सघ में मुनियों की कुल संख्या ६४००० थी। सुव्रता आदि ६२४०० आर्यिकायें थी। २००००० श्रावक और ४००००० श्राविकायें थी।

निर्वाण कल्याणक—भगवान विभिन्न आर्य देशों में विहार करके धर्मोपदेश द्वारा भव्य जीवों का कल्याण करते रहे। अन्त में वे विहार वन्द करके सम्मेद शिखर पहुँचे। वहाँ एक माह का योग निरोध करके आठ सौ नौ मुनियों के साथ ध्यानावृद्ध हुए तथा ज्येष्ठ शुक्ला चतुर्थी के दिन रात्रि के अन्तिम भाग में पुण्य नक्षत्र में निर्वाण प्राप्त किया। उसी समय देवों और इन्द्रों ने आकर भगवान के निर्वाण कल्याणक की पूजा की।

यक्ष-यक्षिणी—भगवान धर्मनाथ के यक्ष का नाम किन्नर और यक्षिणी का नाम परभृती था।

रतनपुरी—रतनपुरी कल्याणक क्षेत्र है। इस नगर में भगवान धर्मनाथ के गर्भ, जन्म, दीक्षा और केवलज्ञान कल्याणक हुए थे। यह क्षेत्र जिला फैजाबाद में प्रयोध्या से बाराबकी वाली सड़क पर १५ मील है। फैजाबाद से सिटी बस मिलती है। रौनाही के चौराहे पर उतरना चाहिए। सड़क से गाँव डेढ़ मील है। कच्चा मार्ग है। गाँव का नाम रौनाही है। सरयू नदी के तट पर दो दिगम्बर जैन मन्दिर हैं। एक मन्दिर में मूर्तियाँ हैं। कहते हैं, यहाँ भगवान का जन्म कल्याणक हुआ था। दूसरे मन्दिर में चरण विराजमान हैं। कहा जाता है, यहाँ भगवान का गर्भ कल्याणक हुआ था।

सुदर्शन बलभद्र, नारायण पुरुषसिंह और प्रतिनारायण मधुक्रीड

राजगृह नगर में राजा सुमित्र राज्य करता था। वह बड़ा भारी मल्ल था। उसने बड़े-बड़े मल्लों को मल्ल-युद्ध में पछाड़ दिया था। इसका उसे अभिमान भी था। लोग उसका बड़ा सम्मान करते थे। एक बार मल्ल-युद्ध विशारद और बल में हाथी के समान राजसिंह नाम का राजा राजगृह आया। उसका पूर्व भव अभिप्राय सुमित्र को मल्ल-युद्ध में पराजित करना था। दोनों राजाओं का अखाड़े में मल्ल-युद्ध हुआ। इसमें सुमित्र पराजित हो गया। इससे उसका मान भग्न हो गया। उसे राज्य में रहने में भी लज्जा आने लगी। अतः उसने राज्य-भार अपने पुत्र को सौंप दिया और वह कृष्णाचार्य के पास जाकर दीक्षित हो गया। उसने सिंह निष्क्रीडित आदि कठिन तप किये, किन्तु उसके मन में अपने पराभव का सकलेश बना रहा। अतः उसने मन में यह सकल्प किया कि यदि मेरे तप का कोई फल हो तो मुझे इतना बल और पराक्रम प्राप्त हो कि मैं अपने शत्रुओं को जीत सकूँ।

अन्त मे समाधिमरण करके वह माहेन्द्र स्वर्ग मे देव हुआ ।

जम्बूद्वीप मे मेरु पर्वत के पूर्व की ओर वीतशोकपुरी नामक नगरी थी । उसमें नरवृषभ नामक राजा राज्य करता था । उसने निर्विघ्न राज्य-सुख भोगा । अन्त में विरक्त होकर दमवर मुनिराज के पास दीक्षा ले ली । उसने कठोर तपस्या की और आयु पूर्ण होने पर वह सहस्रार स्वर्ग मे देव हुआ ।

बलभद्र, नारायण और प्रतिनारायण—खगपुर नगर मे इक्ष्वाकुवंशी राजा मिहसेन शासन करता था । उसकी बड़ी रानी विजया के गर्भ मे सहस्रार स्वर्ग के उस देव का जीव अवतीर्ण हुआ—। उसका जन्म होने पर सुदर्शन नाम रक्खा गया । छोटी रानी अम्बिका के गर्भ मे माहेन्द्र स्वर्ग का देव आया और उत्पन्न होने पर उसका नाम पुरुषसिंह रक्खा गया । दोनों त्रमश गौर और कृष्ण वर्ण के थे । दोनों मे अति स्नेह था और दोनों अविभक्त राज्य का आनन्दपूर्वक भोग करते थे । उन्होंने अपने बाहुबल से अनेक शत्रुओं को पराजित किया था ।

हस्तिनापुर नगर का स्वामी मधुक्रीड बड़ा प्रतापी और अभिमानी नरेश था । उसने कुछ ही काल मे भरत क्षेत्र के तीन खण्डो पर अपना आधिपत्य जमा लिया था । उसे सुदर्शन और पुरुषसिंह दोनों भाइयों का बढता हुआ प्रभाव और तेज सहन नहीं हुआ । उसने अपने प्रधान मन्त्री दण्डगर्भ को उनके पास भेजा और कर-स्वरूप अनेक श्रेष्ठ रत्न मागे । सुनकर दोनों भाई अत्यन्त क्रुद्ध हो गये । उन्होंने मन्त्री को उत्तर दिया—उस मूर्ख से कह देना, हम उसका कर युद्ध-स्थल मे चलकर चुकावेंगे ।

जब मन्त्री से मधुक्रीड ने ये समाचार सुने तो सुनते ही उसकी आँखे क्रोध के कारण रक्तवर्ण हो गई । वह विशाल सेना लेकर युद्ध के लिये चल दिया । दोनों भाई भी सेना सजाकर रणभूमि मे पहुँचे । दोनों सेनायें परस्पर भिड गई । लाशों से मैदान पट गया । पुरुषसिंह मधुक्रीड पर झपटा । अब दोनों वीरों का युद्ध होने लगा । दोनों एक-दूसरे के शस्त्रों और प्रहारों को काटते रहे । मधुक्रीड को अनुभव हुआ कि आज जिस शत्रु से पाला पड़ा है, वह साधारण नहीं है । उसका वध करना ही अपनी सुरक्षा का एकमात्र उपाय है । ऐसा विचार करके उसने अपने शत्रु पर भीषण वेग से चक्र फेंका । किन्तु पुरुषसिंह चक्र को देखकर तनिक भी भयभीत नहीं हुआ । चक्र भी उसके समीप पहुँच कर और प्रदक्षिणा देकर उसकी भुजा पर जा टिका । मधुक्रीड का पुण्य क्षीण हो चुका था । अन्त समय मे उसी के चक्र ने उसे धोखा दिया । पुरुषसिंह ने उसी चक्र को मधुक्रीड पर चला दिया, जिससे उसका सिर कटकर भूलु ठित हो गया । नारायण के हाथ प्रतिनारायण मारा गया । दोनों भाई तीन खण्ड पृथ्वी के अधीश्वर बन गये, सम्पूर्ण राजाओं ने आकर उनके चरणों मे नमस्कार किया । उन्होंने बहुत समय तक राज्यलक्ष्मी का भोग किया ।

एक दिन नारायण की मृत्यु हो गई । अनुज के वियोग मे बलभद्र को बड़ा शोक हुआ । उसे किसी प्रकार भी कहीं पर शान्ति नहीं मिली । तब वह भगवान धर्मनाथ की शरण मे पहुँचा । उनका उपदेश सुनकर उसने दीक्षा ले ली और घोर तप करके उसने सम्पूर्ण कर्मों का नाश करके अक्षय पद मोक्ष प्राप्त किया ।

ये पाँचवें बलभद्र, नारायण और प्रतिनारायण थे । ये तीनों भगवान धर्मनाथ के समय मे हुए थे ।

मघवा चक्रवर्ती

भगवान धर्मनाथ के तीर्थ में मघवा नामक तीसरा चक्रवर्ती हुआ ।

पूर्व भव—वासुपूज्य भगवान के तीर्थ मे नरपति नामक एक बड़ा राजा था । उसने अनेक शत्रुओं को जीत कर अपने राज्य की सीमाये बहुत विस्तृत कर ली । वह बहुत काल तक सूखपूर्वक राज्य करता रहा । जब उसे भोगों से अरुचि हो गई तो वह मुनि बनकर आत्म-कल्याण का पथिक बन गया । उसने घोर तप किया । अन्त में समाधि मरण करके मध्यम ग्रैवेयक में अहमिन्द्र हुआ ।

चक्रवर्ती पद—फिर वहाँ आयु पूर्ण करके वह अयोध्या नरेश इक्ष्वाकुवशी सुमित्र की महारानी भद्रा से मधवा नाम का पुत्र हुआ। जब उसने किशोर वय पार करके यौवन में पदार्पण किया, उसकी आयुषशाला में चक्ररत्न उत्पन्न हुआ। उसकी सहायता से उसने भरत क्षेत्र के षट् खण्डों की विजय की। वह चक्रवर्ती बना। उसके पास नौ निधियाँ थीं। वह चौदह रत्नों का स्वामी था। उसके छियानवें हजार रानियाँ थीं और चक्रवर्ती के योग्य अतुल वैभव था। इतना अपरिमित वैभव होते हुए भी वह भोगों में आसक्त नहीं हुआ।

एक दिन नगर के बाह्य अचल में स्थित मनोहर उद्यान में अभयघोष केवली पधारे। उनका आगमन सुनकर चक्रवर्ती उनके दर्शनो के लिए गया। जाकर उनकी तीन प्रदक्षिणायें दी, वन्दना की और उनसे धर्म का स्वरूप समझा। उपदेश सुनकर चक्रवर्ती के मन में आत्म-कल्याण की भावना जागृत हुई। उसने अपने पुत्र प्रियमित्र को राज्य सौंप कर सम्पूर्ण आरम्भ-परिग्रह का त्याग कर दिया और मोक्ष-प्रसाधक सकल चारित्र्य धारण कर लिया। जिस प्रकार उसने बाह्य शत्रुओं पर विजय प्राप्त की थी, इसी प्रकार उसने तत्पक्षी चक्र से आभ्यन्तर शत्रु-कर्मों पर विजय प्राप्त की और चार घातिया कर्मों का नाश करके सर्वज्ञ सर्वदर्शी बन गया। जिस प्रकार चक्रवर्ती दशा में उनके पास नव निधि थी, इसी प्रकार केवली दशा में वे नौ केवल लब्धियों के धारक बन गये। अब वे भव्य जीवों को कल्याणकारी मार्ग का उपदेश देने लगे। अन्त में शुक्ल ध्यान के तृतीय और चतुर्थ भेद के द्वारा अघाति-चतुष्क का क्षय करके अक्षय मोक्ष पद प्राप्त किया।

ये चक्रवर्ती भगवान् धर्मनाथ और भगवान् शान्तिनाथ के अन्तराल में एव भगवान् धर्मनाथ के तीर्थ में हुए थे।

सनत्कुमार चक्रवर्ती

अयोध्या नगरी^१ के अधिपति, सूर्यवश शिरोमणि महाराज अनन्तवीर्य की रानी सहदेवी के गर्भ से सनत्कुमार नामक पुण्यशील पुत्र उत्पन्न हुआ। इसने यौवन अवस्था प्राप्त होने पर भरत क्षेत्र के षट् खण्डों पर विजय प्राप्त करके चक्रवर्ती पद प्राप्त किया। वे चौथे चक्रवर्ती थे। वे सम्यग्दृष्टियों में प्रधान थे। बत्तीस हजार राजा इनकी सेवा करते थे। देव और विद्याधर इनके सेवक थे। वे अतिशय रूपसम्पन्न थे। उनके रूप की प्रशंसा देव तक करते थे।

एक दिन सौधर्म इन्द्र की सभा में ईशान स्वर्ग से सगम नामक देव आया और आकर वह इन्द्र के समीप बैठ गया। जैसे सूर्योदय होने पर तारागण म्लान पड़ जाते हैं, इसी प्रकार उस देव के आने पर अन्य देवों की कान्ति म्लान हो गई। उसे देखकर सभी देव अत्यन्त विस्मित थे। कुछ देव अपने कुतूहल को नहीं दबा सके और इन्द्र से पूछने लगे—‘किस कारण से यह देव सूर्य के समान तेजस्वी है?’ इन्द्र ने उत्तर दिया—‘पिछले जन्म में इसने आचाम्ल वर्धमान तप किया था। उसी के फल से इसे ऐसा रूप मिला है।’

देवों ने इन्द्र से पुनः प्रश्न किया—‘क्या ऐसा रूप किसी और का भी है?’

इन्द्र बोला—हाँ, है। हस्तिनापुर में कुसुवश में उत्पन्न सनत्कुमार चक्रवर्ती का रूप और तेज इससे भी अधिक है।

इन्द्र की यह बात सुनकर विजय और वैजयन्त नामक दो देव ब्राह्मण का रूप धारण करके कुतूहलवश

१- आचार्य गुणभद्रकृत उत्तर पुराण के अनुसार। आराधना कथाकोष के अनुसार नगर का नाम वीतशोक, राजा का नाम अनन्तवीर्य और रानी का नाम सीता। हरिवंश कथाकोष के अनुसार हस्तिनापुर नरेश विश्वसेन की रानी सहदेवी। श्वेताम्बर मान्यता भी यही है। केवल विश्वसेन के स्थान पर अश्वसेन नाम है।

हस्तिनापुर पहुँचे और प्रतिहार से चक्रवर्ती के रूप-दर्शन की आज्ञा लेकर स्नान-गृह में पहुँचे जहाँ चक्रवर्ती तेल की मालिश करवा रहे थे। उनका अनिष्ट रूप देखकर दोनों देव अत्यन्त विस्मित हो गये और बोले—राजन् ! तुम्हारे तेज, यौवन और रूप की जैसी प्रशंसा सौधर्मन्द्र ने की थी, यह उससे भी अधिक है। हम तुम्हारा यह रूप देखने ही स्वर्ग से यहाँ आये हैं।

चक्रवर्ती देवों द्वारा प्रशंसा सुनकर बोले—देवो ! अभी तुमने क्या देखा है। आप लोग कुछ देर ठहरे। जब मैं स्नान करके वस्त्राभूषण पहनकर और इत्र फुलेल, ताम्बूल आदि का सेवन करके तैयार हो जाऊँ, उस समय मेरी रूप माधुरी देखना।’

दोनों देव सुनकर कौतुक मन में सजोये प्रतीक्षा करने लगे। जब चक्रवर्ती स्नान, विलेपन आदि करके सिंहासन पर विराजमान हो गये, तब उन्होंने दोनों देवों को बुलाया। देव अत्यन्त उत्कण्ठा लिए पहुँचे और चक्री के तेज और रूप को देखकर बड़े खिन्न हुए और बोले—राजन् ! यह रूप, यौवन, बल, तेज और वैभव इन्द्र धनुष के समान क्षणभंगुर है। हमने वस्त्रालकार रहित अवस्था में आपके रूप में जो सौन्दर्य, जो माधुर्यवर्ती देखा था, वह अब नहीं रहा। देवों का रूप जन्म से मृत्यु पर्यन्त एक-सा रहता है, किन्तु मनुष्यों का रूप यौवन तक बढ़ता है और यौवन के पश्चात् छीजने लगता है। इसलिए इस क्षणिक रूप का मोह और अहंकार व्यर्थ है।

देवों की बात सुनकर उपस्थित सभी लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ। तब कुछ सभ्य जन बोले—‘हमें तो महाराज के रूप में पहले से कुछ भी कमी नहीं दिखाई पड़ती। न जाने आप लोगों ने पहली सुन्दरता से क्यों कमी बताई है।’ सुनकर देवों ने सबको प्रतीति कराने के लिए जल से पूर्ण एक घड़ा मगवाया। उसे सबको दिखाया। फिर एक तृण द्वारा जल की एक बूंद निकाल ली। फिर सबको घड़ा दिखाकर बोले—‘आप लोग बतलाइये, पहले घड़े में जैसे जल भरा था, अब भी वैसे ही भरा है। क्या इसमें तुम्हें कुछ विशेषता दिखाई पड़ती है?’ सबने एक स्वर से कहा—‘नहीं, कुछ विशेषता दिखाई नहीं पड़ती।’ तब देव कहने लगे—‘महाराज ! भरे हुए घड़े में से एक बूंद निकाली गई, तब भी इन्हीं जल उतना ही दिखाई पड़ता है। इसी तरह हमने आपका जो रूप पहले देखा था, वह अब नहीं रहा। वह कमी हमें दिखाई पड़ती है, किन्तु इन लोगों को दिखाई नहीं पड़ती।’

देव यो कह कर अपने स्वर्ग को चले गये, किन्तु चक्रवर्ती के अन्धेरे हृदय में एक प्रकाशमान ज्योति छोड़ गये। उनके मन में विचार-तरंग उठने लगी—ठीक ही तो कहते हैं ये देव। इस जगत में सब कुछ ही तो क्षणिक है, नाशवान है। मेरा यह शरीर भी तो नाशवान है, फिर इसके रूप का यह अहंकार क्यों ? मैंने अब तक इस शरीर के लिए सब कुछ किया, अपने लिए कुछ नहीं किया। मैं अब आत्मा के लिए करूँगा।

मन में वैराग्य जागा तो उन्होंने तत्काल अपने पुत्र का राजतिलक किया और चारित्र्यगुप्त मुनिराज के पास जाकर जिन-दीक्षा ले ली। वे आत्म कल्याण के मार्ग में निरन्तर बढ़ते रहे। एक बार षष्ठोपवास के बाद वे आहार के लिए नगर में गये। वहाँ देवदत्त नामक राजा ने उन्हें आहार कराया। मुनि सनत्कुमार ने आहार लेकर फिर षष्ठोपवास ले लिया। किन्तु वह आहार इतना प्रकृति-विरुद्ध था कि उससे शरीर में अनेक भयंकर रोग उत्पन्न हो गये। यहाँ तक कि उनके शरीर में कुष्ठ हो गया। शरीर में दुर्गन्ध आने लगी। किन्तु मुनिराज का ध्यान एक क्षण के लिए कभी शरीर की ओर नहीं गया। उन्हें औषध ऋद्धि प्राप्त थी, किन्तु कभी रोग का प्रतीकार नहीं किया।

एक दिन पुन इन्द्र सौधर्म सभा में धर्मप्रेमवश सनत्कुमार मुनिराज की प्रशंसा करते हुए कहने लगे—
‘धन्य है सनत्कुमार मुनि, जिन्होंने पट् खण्ड पृथ्वी का साम्राज्य तृण के समान असार जानकर त्याग दिया और तप का आराधन करते हुए पाँच प्रकार के चारित्र्य का दृढतापूर्वक पालन कर रहे हैं।’

इन्द्र द्वारा यह प्रशंसा सुनकर मदनकेतु नामक एक देव सनत्कुमार मुनिराज की परीक्षा लेने वैद्य का वेष धारण करके उस स्थान पर पहुँचा जहाँ मुनिराज तपस्या कर रहे थे। वहाँ आकर वह जोर जोर से कहने लगा—
‘मैं प्रसिद्ध वैद्य हूँ, मृत्युञ्जय मेरा नाम है। प्रत्येक रोग की औषधि मेरे पास है। कोई उपचार करा लो।’

मुनिराज बोले—‘तुम वैद्य हो, यह तो बड़ा अच्छा है। मुझे बड़ा भयंकर रोग है। क्या तुम उसका भी उपचार कर सकते हो?’

देव बोला—‘अवश्य ही मैं आपके रोग का उपचार कर सकता हूँ। वह रोग आपके शरीर में निरन्तर चूने वाला कोढ़ है।’

मुनिराज कहने लगे—‘यह रोग तो साधारण है। मुझे तो इससे भी भयकर रोग है। वह रोग है जन्म-मरण का। यदि तुम उसका उपचार कर सकते हो तो कर दो।’

सुनकर वैद्य वेषधारी देव लज्जित होकर बोला—‘मुनिनाथ ! इस रोग को तो आप ही नष्ट कर सकते हैं।

तब मुनिराज मुस्कराकर कहने लगे—‘भाई ! जब तुम इस रोग को नष्ट नहीं कर सकते तो फिर मुझे तुम्हारी आवश्यकता नहीं है। शरीर की व्याधि तो स्पर्श मात्र से ही दूर हो सकती है, उसके लिए वैद्य की क्या आवश्यकता है।’ यो कह कर मुनिराज ने एक हाथ पर दूसरे हाथ को फेरा तो वह स्वर्ण जैसा निर्मल बन गया।

मुनिराज की इस अद्भुत शक्ति को देखकर अपने असली रूप को प्रगट कर देव हाथ जोड़कर बोला—‘देव ! सौधर्मेन्द्र ने आपकी जैसी प्रशंसा की थी, मैंने आपको वैसा ही पाया।’ और वह नमस्कार करके अपने स्थान को चला गया।

मुनिराज सनत्कुमार शुक्ल ध्यान के द्वारा कर्मों को नष्ट करके अनन्त सुख के धाम सिद्धालय में जा विराजे।

सनत्कुमार चक्रवर्ती भी भगवान धर्मनाथ के तीर्थ में श्रीर धर्मनाथ एवं शान्तिनाथ के अन्तराल में हुए थे।



सप्तदश परिच्छेद

भगवान शान्तिनाथ

पूर्व भव—यहाँ भगवान शान्तिनाथ के पूर्व के नौ भवों की कथा दी जा रही है।

भगवान महावीर का जीव जब त्रिपृष्ठ नामक प्रथम नारायण था, उस समय की यह कथा है। त्रिपृष्ठ ने अपनी पुत्री ज्योतिप्रभा का विवाह रथनूपुर के राजकुमार अमिततेज के साथ कर दिया और अमिततेज की वहन सुतारा त्रिपृष्ठ के पुत्र श्रीविजय के साथ विशाही गई। जब त्रिपृष्ठ नारायण का देहान्त हो गया और भाई के शोक में बलमद्र विजय ने दीक्षा लेली, तब श्रीविजय पोदनपुर का राजा बना। एक दिन एक निमित्तज्ञानी ने आकर कहा कि पोदनपुर के राजा के मस्तक पर आज से सातवें दिन वज्र गिरेगा। सुनकर सबको चिन्ता हुई। तब मंत्रियों ने उपाय सोचा—निमित्तज्ञानी ने किसी राजा का नाम तो लिया नहीं। जो सिंहासन पर बैठा होगा, उसी पर तो वज्र गिरेगा, यह विचार कर उन्होंने सिंहासन पर एक यक्ष-प्रतिमा रख दी। ठीक सातवें दिन यक्ष-मूर्ति पर भयकर वज्र गिरा। राजा बच गया। राजा सुतारा को लेकर वन-विहार के लिये गया। वे दोनों वन में बैठे हुए थे, तभी आकाश मार्ग से चमरचचपुर का राजकुमार अशनिघोष विद्याधर उधर से निकला। उसने सुतारा को देखा तो वह उस पर मोहित हो गया। तब वह हरिण का रूप बनाकर आया और छल से श्रीविजय को दूर ले गया। फिर वह श्रीविजय का रूप धारण करके आया और सुतारा से बोला—‘प्रिये! सूर्य अस्त हो रहा है, चलो लौट चले।’ सुतारा उसके साथ विमान में चल दी। मार्ग में अशनिघोष ने अपना रूप और उद्देश्य प्रगट किया। तब सुतारा जोर-जोर से विलाप करने लगी।

जब श्रीविजय वापिस आया और सुतारा वहाँ नहीं मिली तो वह अत्यन्त कातर हो उठा। तभी एक विद्याधर ने उसे सुतारा के अपहरण का समाचार दिया। सुनते ही वह सीधा रथनूपुर पहुँचा और अमिततेज से सब बातें बताईं। अमिततेज सुनकर अत्यन्त क्रुद्ध हो उठा और सेना लेकर अशनिघोष पर जा चढ़ा। भयानक युद्ध हुआ। उसमें हारकर अशनिघोष वहाँ से भागा और नाभेयसीम पर्वत पर विजय तीर्थकर का समवसरण देखकर उसमें जा घुसा। अमिततेज और श्रीविजय भी उसका पीछा करते हुए समवसरण में जा पहुँचे। किन्तु वहाँ का यह अलौकिक प्रभाव था कि न अशनिघोष के मन में भय के भाव थे और न अमिततेज और श्रीविजय के मन में क्रोध के भाव रहे। तभी अशनिघोष की माता आसुरीदेवी ने सुतारा को लाकर उन दोनों को समर्पण किया और अपने पुत्र के अपराध की क्षमा मागी।

सबने भगवान का उपदेश सुना और सबने यथायोग्य मुनिव्रत आर्यिका के व्रत अथवा श्रावक के व्रत लिये।

अमिततेज के प्रश्न करने पर भगवान ने सबके पूर्व भव बताते हुए कहा—तेरा जीव आगे होने वाले नौवें भव में पाँचवा चक्रवर्ती और सोलहवाँ तीर्थकर शान्तिनाथ होगा।

सुनकर अमिततेज को बड़ा हर्ष हुआ। भगवान को नमस्कार कर वे लोग अपने-अपने स्थान को लौट गये। अब उसकी प्रवृत्ति धर्म की ओर हो गई। वह निरन्तर दान, पूजा, व्रत, उपवास करने लगा। यद्यपि उसे अनेक

विद्याये सिद्ध थी और वह विजयार्थ पर्वत की दोनों श्रेणियों का एकछत्र सम्राट् था, किन्तु धर्म-कार्यों में कभी प्रमाद नहीं करता था। किन्तु एक दिन उसने भोगों का निदान बन्ध किया।

जब दोनों की आयु एक मास शेष रह गई तो अपने-अपने पुत्रों को राज्य देकर वे नन्दन नामक मुनिराज के पास दीक्षा लेकर मुनि बन गये और अन्त में समाधिमरण करके तेरहवें स्वर्ग में अमित ऋद्धिधारी देव हुए।

आयु पूर्ण होने पर अमिततेज का जीव पूर्व विदेह क्षेत्र के वत्सकावती देश के राजा स्तिमितसागर की रानी वसुन्धरा के गर्भ से अपराजित नामक पुत्र हुआ और श्रीविजय का जीव उसी राजा की अनुमति नाम की रानी से अनन्तवीर्य नामक पुत्र हुआ। दोनों में परस्पर बड़ा प्रेम था। वे दोनों ही क्रमशः बलभद्र और नारायण थे। जब वे यौवन अवस्था को प्राप्त हुए तो पिता ने उनका विवाह कर दिया और बड़े भाई को राज्य-भार सौंपकर छोटे भाई का युवराज पद दे दिया। राज्य पाते ही उनका प्रभाव और तेज बढ़ने लगा।

उनकी राज्य-सभा में बर्बरी और चिलातिका नामक दो सुन्दर नर्तकियाँ थी। नृत्यकला में उनकी प्रसिद्धि सम्पूर्ण देश में व्याप्त थी। एक दिन वे दोनों नर्तकियों का नृत्य देखने में मग्न थे, तभी नारद पधारे, किन्तु उनका ध्यान नारद की ओर नहीं गया, अतः वे उनका उचित आदर नहीं कर सके। इतने में नारद आगबबूला हो गये और सभा से निकल गये। वे सीधे शिवमन्दिर नगर के राजा दमितारि के पास पहुँचे। राजा ने उठकर उनकी अभ्यर्थना की और बैठने के लिये उच्चासन दिया। इधर-उधर की बातचीत होने के अनन्तर नारद ने उन नृत्यकारिणियों का जिक्र छेड़ा और कहा—महाराज! वे तो ऐसी रत्न हैं, जो केवल आपकी सभा में ही शोभा पा सकती हैं। उनके कारण आपकी सभा की भी शोभा बढ़ेगी।

नारद तो चिनगारी छोड़कर चले गये। दमितारि का प्रभाव आधे देश पर था। वह प्रतिनारायण का ऐश्वर्य भोग रहा था। उसने दूत भेजकर दोनों भाइयों को आदेश दिया—तुम लोग अपनी नर्तकियों को दूत के साथ हमारे पास भेज दो।

राजा अपराजित ने दूत को सम्मानपूर्वक ठहराया और मन्त्रियों से परामर्श किया। फलतः वे दोनों भाई नर्तकियों का वेष धारण करके दूत के साथ दमितारि की सभा में पहुँचे। वहाँ उन्होंने जो कलापूर्ण नृत्य दिखाया तो दमितारि बोला—‘तुम हमारी पुत्रों को नृत्यकला सिखला दो।’ उन्होंने यह भी स्वीकार कर लिया। वे राजपुत्री कनक श्री को नृत्यकला सिखाने लगे। वही कनकश्री और अनन्तवीर्य का प्रेम हो गया। एक दिन दोनों भाई राजपुत्री को लेकर आकाश-मार्ग से चल दिये। जब अन्तपुर के कचुकी ने यह दुसवाद महाराज दमितारि को सुनाया तो वह अत्यन्त क्रुद्ध होकर सेना लेकर युद्ध करने चल दिया। मार्ग में ही दमितारि का दोनों भाइयों के साथ भयानक युद्ध हुआ। अपराजित सेना के साथ युद्ध करने लगा और अनन्तवीर्य दमितारि के साथ। अनन्तवीर्य के प्रहारों से त्रस्त होकर दमितारि ने उस पर चक्र फेंका। किन्तु चक्र प्रदक्षिणा देकर उसके कन्धे पर ठहर गया। तब अनन्तवीर्य ने उसी चक्र से दमितारि का वध कर दिया। पश्चात् सभी विद्याधरों को जीतकर अपराजित ने बलभद्र पद धारण किया और अनन्तवीर्य ने नारायण पद। वे दोनों आनन्दपूर्वक बहुत काल तक राज्य-सुख का भोग करते रहे।

अनन्तवीर्य की मृत्यु होने पर अपराजित बहुत शोक करता रहा। फिर पुत्र को राज्य सौंपकर सम्पूर्ण आभ्यन्तर-बाह्य आरम्भ परिग्रह का त्याग कर सयम धारण कर लिया और समाधिमरण कर अच्युत स्वर्ग का इन्द्र हुआ। अनन्तवीर्य का जीव नरक और मनुष्यगति में जन्म लेकर अच्युत स्वर्ग का प्रतीन्द्र हुआ।

अच्युतेन्द्र आयु पूर्ण होने पर पूर्व विदेह क्षेत्र के रत्नसचयपुर में राजा क्षेभकर की कनकचित्रा नाम की रानी से वज्रायुध नामक पुत्र हुआ। उसके उत्पन्न होने पर सभी को महान् हर्ष हुआ। ज्यों ज्यों वह बड़ा होता गया, उसके गुणों का सौरभ और यश चारों ओर फैलने लगा। तरुण होने पर पिता ने उसको युवराज बना दिया। अब वज्रायुध राज्य-लक्ष्मी और लक्ष्मीमती नामक स्त्री का आनन्दपूर्वक भोग करने लगा। उन दोनों से प्रतीन्द्र का जीव सहस्रायुध नामक पुत्र हुआ।

वज्रायुध अष्टांग सम्यग्दर्शन का निरतिचार पालन करता था। वह क्षायिक सम्यग्दृष्टि था। एक दिन ऐशान स्वर्ग के इन्द्र ने धर्म-प्रेम के कारण वज्रायुध के सम्यग्दर्शन की निष्ठा की प्रशंसा की। इस प्रशंसा को विचित्र-

चूल नामक देव सहन नहीं कर सका और वह वज्रायुध की परीक्षा करने चल दिया। आकर उसने वज्रायुध से नाना भाँति के प्रश्न किये, किन्तु वज्रायुध ने आत्म-श्रद्धा के साथ देव को उत्तर दिये। उससे वह न केवल निरुत्तर ही हो गया, बल्कि उसे भी सम्यग्दर्शन प्राप्त हो गया। उसने अपना वास्तविक रूप प्रगट कर राजा की पूजा की और अपने आने का उद्देश्य प्रगट कर उनकी बहुत प्रशंसा की।

वज्रायुध के पिता क्षेमकर तीर्थंकर थे। उन्हें राज्य करते हुए बहुत समय बीत गया। तब वे वज्रायुध का राज्याभिषेक करके दीक्षित हो गये और तपस्या करते हुये उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया। इन्द्र और देव उनके ज्ञान कल्याणक के उत्सव में आये और उनकी पूजा की। वे चिरकाल तक विहार करके भव्य जीवों का कल्याण करते रहे।

एक बार वज्रायुध अपनी रानियों के साथ वन-विहार के लिये गये। वहाँ एक तालाब में वे रानियों के साथ जल-क्रीडा कर रहे थे, तभी किसी दुष्ट विद्याधर ने एक शिला से सरोवर को ढक दिया और वज्रायुध को नागपाश से बाँध लिया। किन्तु वज्रायुध इससे जरा भी विचलित नहीं हुए। उन्होंने हाथ की हथेली से शिला पर प्रहार किया, जिससे उसके शत शत खण्ड हो गए। वे फिर रानियों के साथ अपने नगर वापिस आ गये।

इसके कुछ काल बाद ही नौ निधियाँ और चौदह रत्न प्रगट हुए। उन्होंने दिग्विजय के लिये अभियान किया और कुछ ही समय में षट् खण्ड पृथ्वी को जीतकर वे चक्रवर्ती बन गए। वे चिरकाल तक भोग भोगते रहे। एक दिन उनके पौत्र मुनिराज कनकशान्ति को केवलज्ञान हो गया। उन्होंने तभी अपने पुत्र सहस्रायुध का राज्याभिषेक करके क्षेमकर भगवान के पास जाकर दीक्षा लेली। दीक्षा लेकर वे सिद्धिगिरि पर्वत पर एक वर्ष का प्रतिमा-योग का नियम लेकर ध्यानलीन हो गये। धीरे-धीरे उनके चरणों के सहारे दीमको ने बमीठे बना लिये और उनमें लताएँ उग आईं जो मुनिराज के शरीर पर चढ़ गईं। दो असुरों ने उनके ऊपर उपद्रव करने का प्रयत्न किया किन्तु रम्भा और तिलोत्तमा नामक दो देवियों ने उन्हें भगा दिया। फिर उन्होंने मुनिराज की पूजा की।

कुछ समय पश्चात् सहस्रायुध ने भी दीक्षा लेली और प्रतिमायोग का काल पूर्ण होने पर वे भी मुनिराज वज्रायुध के पास आ गये। दोनों ने वैभार पर्वत पर जाकर तपस्या की और सन्यासमरण कर वे दोनों ऊर्ध्व अवैयक के सौमनस विमान में अर्हमिद्र हुए।

पूर्व विदेह क्षत्र में पुष्कलावती देश था। उसमें पुण्डरीकिणी नगरी थी। उस नगरी के शासक धनरथ थे। वज्रायुध का जीव अवैयक में आयु पूर्ण होने पर महाराज धनरथ की बड़ी रानी मनोहरा से मेघरथ नामक पुत्र पैदा हुआ और सहस्रायुध का जीव महाराज की दूसरी रानी मनोहरा से वृद्धरथ नामक पुत्र हुआ। दोनों पुत्रों की ज्यो ज्यो आयु बढ़ती गई, त्यों त्यों उनके गुणों में भी वृद्धि होती गई। जब वे पूर्ण युवा हो गये, तब पिता ने दोनों के विवाह कर दिये। मेघरथ को जन्म से ही अवधिज्ञान था और पिता तीर्थंकर थे। एक दिन महाराज धनरथ को ससार के सुखों से विरक्ति हो गई। तभी लौकान्तिक देवों ने आकर स्वर्गीय पुष्पो से उनकी पूजा की और उनके विचारों की सराहना करके देव-लोक को चले गये। तब महाराज धनरथ ने मेघरथ का राज्याभिषेक करके स्वयं सयम धारण कर लिया। तपस्या करते हुए उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। देवों ने आकर बड़े वैभव के साथ उनकी पूजा की। भगवान धनरथ विभिन्न देशों में विहार करते हुए उपदेश देने लगे।

एक दिन मेघरथ अपनी रानियों के साथ देवरमण उद्यान में विहार के लिये गये। वे वहाँ चन्द्रकांत मणि की शिला पर बैठे विश्राम कर रहे थे। तभी उनके ऊपर से एक विद्याधर विमान में जा रहा था। किन्तु विमान रुक गया। इससे विद्याधर बड़ा कुपित हुआ। वह नीचे उतर कर आया। वह क्रोध के मारे उस शिलातल को उठाने के लिये प्रयत्न करने लगा। मेघरथ ने यह देखकर अपने पैर के अंगूठे से उस शिला को दबा दिया। इससे विद्याधर बुरी तरह उसके नीचे दब गया और करुण स्वर में चिल्लाने लगा। तब उसकी स्त्री आकर दीनतापूर्वक पति के प्राणों की भिक्षा मागने लगी। मेघरथ उसकी विनय से द्रवित हो गये और अपना पैर उठा लिया। तब उस विद्याधर राजा सिंहरथ ने मेघरथ की पूजा की।

एक दिन महाराज मेघरथ उपवास का नियम लेकर आष्टान्हिक पूजा के पश्चात् उपदेश दे रहे थे। तभी

एक भयाक्रान्त कबूतर उड़ता हुआ आया और उनकी गोद में बैठ गया। उसके पीछे एक गोध आया और खड़ा होकर बोला—महाराज मैं क्षुधा से पीड़ित हूँ। यह कबूतर मेरा भक्ष्य है। यह मुझे दे दोजिये, अन्यथा मेरी मृत्यु निश्चित है।

मेघरथ ने जान लिया कि गोध नहीं बोल रहा है, बल्कि यह ज्योतिष्क देव बोल रहा है। गोध को बोलता देखकर दृढरथ को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने पूछा—‘आर्य ! यह गोध इस प्रकार कैसे बोल रहा है ?’ तब मेघरथ कहने लगे—वस्तुतः कबूतर और गोध तो पक्षी ही हैं किन्तु गोध के ऊपर एक देव स्थित है। वह बोल रहा है। यह एक ज्योतिष्क देव है। वह एक दिन ऐशान स्वर्ग में गया था। वहाँ सभासद देव कह रहे थे कि इस समय पृथ्वी पर मेघरथ से बढकर दूसरा दाता नहीं है। मेरी प्रशंसा सुनकर इस देव को सहन नहीं हुई, अतः वह मेरी परीक्षा करने आया है। किन्तु जो मोक्ष मार्ग में स्थित है, वही पात्र है, वही दाता है। मांस देने योग्य पदार्थ नहीं है और मांस की इच्छा करने वाला पात्र नहीं है और इसका देने वाला दाता नहीं है। इसलिये यह गोध दान का पात्र नहीं है और यह कबूतर शरणागत है, इसलिये यह देने योग्य नहीं है।

मेघरथ की यह धर्मयुक्त बात सुनकर वह ज्योतिष्क देव प्रसन्न हुआ और प्रगट होकर मेघरथ को प्रशंसा करके अपने स्थान को चला गया।

एक दिन मेघरथ अष्टान्हिका पर्व में पूजा करके उपवास धारण कर रात्रि में प्रतिमायोग में ध्यानारूढ थे। तभी ऐशान स्वर्ग में इन्द्र ने प्रशंसा की—राजा मेघरथ सम्यग्दृष्टियों में अग्रगण्य है। वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि है, धर्मवीर हैं। इन्द्र द्वारा मेघरथ की इस प्रकार प्रशंसा सुनकर अतिरूपा और सुरूपा नाम की दो देवियाँ उनकी परीक्षा के लिये आईं। उन्होंने नाना प्रकार के नृत्य, हावभाव, विलास आदि द्वारा मेघरथ को विचलित करना चाहा, किन्तु असफल रही और उनकी स्तुति कर चली गईं।

किसी दिन भगवान धनरथ नगर के बाहर मनोहर उद्यान में पधारे। मेघरथ उनके दर्शनो के लिये गये। भगवान का उपदेश सुनकर उन्होंने सम्पूर्ण आरम्भ परिग्रह का त्याग करने का सकल्प किया और अपने छोटे भाई दृढरथ से बोले—मैं दोक्षा लेना चाहता हूँ, तुम राज्य सभालो। दृढरथ बोला—आप जिस कारण से राज्य का परित्याग करना चाहते हैं, मैं उसी कारण से इसे ग्रहण नहीं करना चाहता। राज्य को ग्रहण कर एक दिन छोड़ना ही पड़ेगा तब उसे पहले ही ग्रहण करना अच्छा नहीं है। तब मेघरथ ने अपने पुत्र मेघसेन का राज्याभिषेक करके अपने छोटे भाई और सात हजार राजाओं के साथ भगवान धनरथ के पास दीक्षा ग्रहण कर ली।

वे क्रम से ग्यारह अंग के वेत्ता हो गये और उन्होंने सोलह कारण भावनाओं का निरन्तर चिन्तन किया, जिससे उन्हें सातिशय पुष्प वाली तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध हो गया। वे ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य और तप इन चारों आराधनाओं की निरन्तर विशुद्धि बढ़ाते जा रहे थे। अन्त में नभस्तिलक नामक पर्वत पर अपने छोटे भाई दृढरथ के साथ एक माह तक प्रायोपगमन नामक समाधि धारण कर ली। अन्त में शान्त भावों से शरीर छोड़कर अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र हुए। दृढरथ भी अहमिन्द्र बने।

भगवान शान्तिनाथ

हस्तिनापुर नगरी में काश्यप गोत्री महाराज विश्वसेन राज्य करते थे। गान्धार नरेश राजा अर्जितजय की पुत्री एरा उनकी महारानी थी। उनकी सेवा इन्द्र द्वारा भेजी हुई श्री, ह्री, वृत्ति आदि देवियाँ करती थी। भाद्रपद कृष्ण सप्तमी को भरणी नक्षत्र में रात्रि के चतुर्थ भाग में उन्होंने शुभ सोलह स्वप्न देखे। स्वप्नों के बाद उन्होंने मुख में प्रवेश करता हुआ एक हाथी देखा। उसी समय मेघरथ का जीव अनुत्तर विमान से च्युत होकर महारानी के गर्भ में अवतरित हुआ। प्रातः काल की भेरी

गर्भ कल्याणक

का शब्द सुनकर महारानी शय्या त्याग कर उठी। उन्होंने मंगल स्नान करके वस्त्रालंकार धारण किये और राज-सभा में पहुँची। महाराज ने उनकी अभ्यर्थना की और अपने वाम पार्श्व में सिंहासन पर उन्हें स्थान दिया। महारानी ने रात को देखे हुए स्वप्नों का वर्णन करके महाराज से उन स्वप्नों का फल पूछा। अवधिज्ञान के धारक महाराज ने हर्षपूर्वक स्वप्नों का फल बताया और कहा—देवी! तुम्हारे गर्भ में विश्वोद्धारक तीर्थंकर देव का आगमन हुआ है। सुनकर महारानी को बड़ा हर्ष हुआ। उसी समय चारों निकाय के देव और इन्द्र वहाँ आये और गर्भवितार कल्याणक की पूजा की।

पन्द्रह माह तक देवों ने रत्नवृष्टि की। रानी के गर्भ में बालक बड़े अभ्युदय के साथ बढ़ने लगा। नौ माह पूरे होने पर ज्येष्ठ कृष्ण चतुर्दशी के दिन याम्य याग में प्रातःकाल के समय माता ने लोकोत्तर पुत्र को जन्म दिया।

जन्म कल्याणक पुत्र इतना सुन्दर था, मानो साक्षात् कामदेव ही अवतरित हुआ हो। उसका ऐसा मोहन रूप था कि जो देखता, वह उसकी मोहनी में बंधा रह जाता। वह जन्म से ही मति, श्रुत और अवधि ज्ञान का धारी था। उस पुत्र की पुण्य वर्णणाओं के कारण उसके उत्पन्न होते ही चारों प्रकार की देव जाति में स्वतः ही प्रत्येक देव-विमान और आवास में शखनाद, भेरीनाद, सिंहनाद और घण्टानाद होने लगा। उस ध्वनि को सुनते ही प्रत्येक इन्द्र और देव ने जान लिया कि तीर्थंकर प्रभु का जन्म हुआ है। सबके हृदय भक्ति और उल्लास से उमगने लगे। सब देव और इन्द्र विविध वाहनो पर आरुढ़ होकर बड़े आनन्द उत्सव के साथ हस्तिनापुर में आये और इन्द्राणी ने माता की बगल में मायामय शिशु बनाकर सुला दिया तथा भगवान को अपने अक में उठा लिया। इन्द्राणी और देवियों के सन्तान नहीं होती, अतः वे नहीं जानती कि पुत्र-वात्सल्य क्या होता है। किन्तु त्रिलोकीनाथ को गोद में लेते ही इन्द्राणी के मन प्राण जिस अलौकिक पुलक से भर उठे, उससे उसके मन का अणु-अणु प्रभु-भक्ति में डूब गया। वह उस दिव्य बालक को लेकर सम्पूर्ण वाह्य को भूल गई, वह यह भी भूल गई कि वह इन्द्राणी है। वह तो प्रभु की भक्ति में इतनी विभोर हो गई कि अपने आपको प्रभु रूप ही देखने लगी। उस समय की उसकी मनोदशा का अकन क्या किसी लेखनी या तूलिका से हो सकता है?

जब उसे प्रतीक्षारत देवों का ध्यान आया, तब उसे चेत आया। वह बाल प्रभु को लेकर चली, किन्तु दृष्टि प्रभु की सौन्दर्य-वल्लरी का ही रस-पान कर रही थी। वह चल रही है, क्या इसका उसे कुछ पता था? जब सौधर्मन्द्र ने उसके अक से बालक को ले लिया, तब उसे लगा जैसे वह रीती हो गई है। किन्तु जो रसाच्छन्नता उसके मन को विमोहित किये हुए थी, वही विमोहित दशा बालक को अक में लेते ही इन्द्र की भी हो गई। रूप ही मानो आकार धारण करके बाल रूप में आ गया था। किन्तु इन्द्र विजडित नहीं हुआ। वह तो सहस्र नेत्र बनाकर उस रूप-मुग्धा को अपने सारे जड चेतन प्राणों से पीने लगा। भक्ति का भी एक नशा होता है। जब यह नशा आता है तो वह सब कुछ भूल जाता है। तब केवल वह रहता है और उसका प्रभु रहता है। भक्त अपनी भक्ति से दोनों के अन्तर को मिटा डालता है। वहाँ द्वेष भाव समाप्त हो जाता है, अभेद भावना भर जाती है। इन्द्र भी तब ऐसी ही स्टेज पर पहुँच गया। मन में हुमक समाये न समायी, वह निकलने को मार्ग ढूँढ़ने लगी। राह मिली पदों में। मन नाच रहा था, पैर नाचने लगे। जगत्प्रभु अक में और इन्द्र लोकातीत लोक में, जहाँ इन्द्र नहीं, प्रभु नहीं, देव नहीं, लोक भी नहीं, जहाँ भावना भी अतीत हो गई, जहाँ केवल शून्य है और शून्य में अधिष्ठित है केवल शुद्ध आत्मा, सिद्ध रूप आत्मा।

इन्द्राणी और इन्द्र भाव लोक की इस कुंवारी धारा में कितने समय बहते रहे, यह समय की पकड़ से परे थी। लेकिन इस धारा में उनके कितनी कर्म-वर्णणायें बह गईं, उसका अन्त नहीं, उसकी सख्या भी नहीं।

तब सब देव चले। इन्द्र ने भगवान को ऐरावत हाथी पर अपने अक में ले रखा था। (इन्द्र सोच रहा था—क्या भगवान का स्थान यह है। नहीं, उनका स्थान यह नहीं, यह लोक भी नहीं, उनका स्थान तो इस लोक के अग्र भाग पर है। वही तो बनाना है अपना स्थान इन भगवान को। और मुझे ही क्या इन भगवानों का भार सदा लादे फिरना है। मुझे भी तो यह निस्सार वैभव, इन्द्र का तुच्छ पद और स्वर्ग का कोलाहल त्याग कर मनव बनकर लोक शिखर पर पहुँचना है। वही तो है मेरा वास्तविक स्थान)।

देवों का जलूस सुमेरु पर्वत पर जाकर रुका। कितने देव-देवियाँ थे इस शोभा यात्रा में, क्या उगलियों की सख्या में वे बाधे जा सकते थे। किन्तु सभी प्रभु की भक्ति में डूबे हुए थे। सब अपनी भक्ति अपने ही ढंग से प्रगट कर रहे थे। वह भक्ति सब बन्धनों से, लौकिक शिष्टाचारों से अतीत थी। लेकिन उसमें एक व्यवस्था थी, अनुशासन था और कलात्मकता थी। प्रभु को पाण्डुक पर्वत की रत्नशिला पर विराजमान किया और देव यन्त्र-चालित से सुमेरु से क्षीरसागर तक पत्तिवद्ध खड़े हो गये। जलपूरित स्वर्ण कलश एक हाथ से दूसरे हाथों में पहुँचते गये और इन्द्र भगवान का अभिषेक करने लगे। यों प्रभु का एक हजार कलशों से अभिषेक हुआ। इन्द्राणी ने न्हवन के अनन्तर रत्नकवल से भगवान का शरीर पोछा, इन्द्र के भण्डार से लाये हुए वस्त्राभूषणों से उनका शृंगार किया। तब प्रभु की उस काल की मोहक छवि से इन्द्र फिर एक बार भूल गया अपनी सुध-बुध को। उसके पैर स्वतः ही थिरकने लगे, गन्धर्वों ने वाद्य सभाले, देवियों ने इन्द्र के नृत्य की सगत साधी। भक्ति के इस पूर में सब कुछ भूल गये। सबके मन शान्ति, दिव्य शान्ति से भर गये। शान्ति का यह चमत्कारपूर्ण अनुभव था। सौधमैन्द्र ने नारा दिया—भगवान शान्तिनाथ की जय। सबने इस नारे को दुहराया। यही था बालक का नामकरण संस्कार। यही नाम फिर लोक-लोकान्तरो में विख्यात हो गया। बालक था त्रिलोकीनाथ, नामकरण करने वाला था स्वर्ग का इन्द्र और साक्षी था सम्पूर्ण देव समाज। नाम रखा गया था बालक के गुण के अनुसार।

देव समाज जिस उत्साह से बालक को ले गया था, उसी उत्साह से वापिस लौटा। आकर माता को इन्द्राणी ने उनकी अमूल्य धरोहर सौंपी। इन्द्र ने पिता को सारे समाचार सुनाये। सुनकर माता-पिता बड़े हर्षित हुए। (कैसी बिडम्बना है दुनिया वालों की। जो स्वयं तीनों लोक का शृंगार है, उसका शृंगार रत्नाभूषणों से करने हैं और जो स्वयं लोक का रक्षक है, उसकी रक्षा के लिये इन्द्र ने लोकपालों की नियुक्ति की। किन्तु सच बात तो यह है कि भगवान को न शृंगार की आवश्यकता है और न किसी रक्षक की। वह तो इन्द्राणी और इन्द्र की भक्ति थी)।

चक्रवर्ती पद—भगवान शान्तिनाथ के शरीर की कान्ति स्वर्ण के समान थी। उनके शरीर में ध्वजा, तोरण, सूर्य, चन्द्र, शख और चक्र आदि शुभ चिह्न थे।

महाराज विश्वसेन की दूसरी रानी यशस्वती के गर्भ से दृढरथ का जीव अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र पद का भोग करके उत्पन्न हुआ और उसका नाम चक्रायुध रखा गया।

बालक शान्तिनाथ ज्यो-ज्यो आयु में बढ़ते जाते थे, त्यो-त्यो उनकी लक्ष्मी, सरस्वती और कीर्ति भी बढ़ती जाती थी। जब वे यौवन अवस्था को प्राप्त हुए, तब पिता ने सुन्दर, सुशील और गुणवती अनेक कन्याओं के साथ उनका विवाह कर दिया और पिता ने अपना राज्य सौंप दिया। राज्य करते हुए जब शान्तिनाथ को कुछ समय हो गया, तब चक्र आदि चौदह रत्न और नौ निधियाँ प्रगट हुईं। उन चौदह रत्नों में से चक्र, छत्र, तलवार और दण्ड ये चार आयुधशाला में उत्पन्न हुए थे। काकिणी, चर्म और चूड़ामणि श्रीगृह में प्रगट हुए थे। पुरोहित, स्थपति, सेनापति और गृहपति हस्तिनापुर में मिले थे तथा कन्या, गज और अश्व विजयार्घ्य पर्वत पर प्राप्त हुए थे। नौ निधियाँ इन्द्रो ने नदी और सागर समागम पर लाकर दी थी। चक्र के बल पर और सेनापति के द्वारा उन्होंने भरत क्षेत्र के छोटी-छोटी पर विजय प्राप्त कर सम्पूर्ण भरत में चक्रवर्ती साम्राज्य की स्थापना की। चक्रवर्ती पद को समस्त विभूति उन्हें प्राप्त थी। बत्तीस हजार मुकुटवद्ध राजा उन्हें नमन करते थे। उनके अन्तःपुर में छियानव हजार रानियाँ थीं। उन्हें दस प्रकार के भोग प्राप्त थे।

चक्रवर्ती पद का भोग करते हुए उन्हें बहुत काल बीत गया। एक दिन वे अलंकार गृह में अलंकार धारण कर रहे थे, तभी उन्हें दर्पण में अपने दो प्रतिबिम्ब दिखाई पड़े। वे विचार करने लगे—यह क्या है। तभी उन्हें अपने पूर्वजन्म की बातें स्मरण हो आईं। ससार का अस्थिर रूप देखकर उनके मन में आत्म-दीक्षा कल्याणक कल्याण की भावना जागृत हुई। तभी लौकान्तिक देवों ने आकर भगवान को नमस्कार किया और उनके वैराग्य की सराहना करते हुए उनसे धर्म-तीर्थ के प्रवर्तन करने की प्रार्थना की। भगवान ने नारायण नामक अपने पुत्र को राज्य-पट्ट बांध कर राज्य उसे सौंप दिया। इन्द्र ने आकर उनका दीक्षा

भिषेक किया। फिर वे देवनिर्मित सर्वार्थसिद्धि पालकी में बैठकर नगर के बाहर सहस्राश्र वन में पहुँचे। वहाँ शिला-तल पर उत्तर की ओर मुख करके पर्यंकामन से बैठ गये। उगी समय ज्येष्ठ कृष्ण चतुर्दशी के दिन शाम के समय भरणी नक्षत्र में बेला का नियम लेकर सिद्ध भगवान को नमस्कार कर सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग किया, पंचमुष्टि लोच किया और निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुद्रा धारण कर सामायिक चारित्र की विभुद्धता और मन पर्यय ज्ञान प्राप्त किया। इन्द्र ने उनके वेशों को एक रत्नमञ्जुषा में रग कर धीरगागर में प्रवाहित कर दिया। उनके साथ चक्रायुध आदि एक हजार राजाओं ने भी सकल समय धारण कर लिया। इन्द्र और देव ऐसे समय की भावना करते हुए दीक्षा महोत्सव मनाकर अपने-अपने स्थान को चले गये।

पारणा के लिये भगवान मन्दिरपुर नगर में पहुँचे। वहाँ गुप्तिन राजा ने भगवान को प्रासुक आहार दिया। देवों ने इस उपलक्ष्य में पनाञ्जन्य किये।

केवलज्ञान कल्याणक—छद्मस्थ अवस्था के मोक्षार्ह वर्ण तक भगवान विभिन्न न्यानों पर रहकर धीरे धीरे करते रहे और निरन्तर कर्मों का क्षय करते गये। फिर भगवान चक्रायुध आदि मुनियों के साथ सहस्राश्र वन में पधारे और नन्दावत वृक्ष के नीचे बेला के उपवास का नियम लेकर ध्यानमग्न हो गये। उनका मुख पूर्व की ओर था। भगवान को पीप शुक्ला दशमी को भरणी नक्षत्र में सायंकाल के समय ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय कर्म नष्ट होने पर केवलज्ञान प्रगट हुआ। देव और इन्द्रों ने आकर भगवान का ज्ञान कल्याणक मनाया और समवसरण की रचना की। भगवान ने उगी दिन दिव्य ध्वनि द्वारा धर्मचक्र-प्रवर्तन किया।

भगवान का संघ—भगवान के साथ में चक्रायुध आदि छत्तीस गणधर थे। ८०० पूर्वधर, ४१८०० शिक्षक, ३००० अवधिज्ञानी, ४००० केवलज्ञानी, ६००० विप्रिया ऋद्धिधारी, ४००० मन पर्ययज्ञानी, २४०० वादी थे। इस प्रकार कुल मुनियों की संख्या ६२००० थी। हरिषेणा आदि ६०३०० आर्यिका थी। सुरकीर्ति आदि २००००० श्रावक और अर्हदासी आदि ४००००० श्राविकाये थी।

निर्वाण कल्याणक—भगवान बहुत समय तक विभिन्न देशों में विहार करके धर्म का प्रकाश ससार को देते रहे। जब एक माह की आयु शेष रह गई, तब वे सम्मेदशिसरूप पर आये और विहार बन्द कर वहाँ योगनिरोध करके विराजमान हो गये। उन्होंने अवशिष्ट वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र कर्मों का भी क्षय कर दिया और ज्येष्ठ कृष्ण चतुर्दशी के दिन रात्रि के पूर्व भाग में भरणी नक्षत्र में नौ हजार राजाओं के साथ निर्वाण प्राप्त किया। चार प्रकार के देव आये और निर्वाण कल्याणक की पूजा करके अपने-अपने स्थान को चले गये।

जन्म-चिन्ह—भगवान का चिन्ह हरिण था।

यक्ष-यक्षिणी—इनका गरुड यक्ष और महामानसी यक्षिणी थी।

हस्तिनापुर—भगवान की जन्म-नगरी हस्तिनापुर विख्यात जैन तीर्थ है। यही पर सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ, सत्रहवें कुण्डुनाथ और अठारहवें भगवान अरुनाथ का जन्म हुआ था। यही इन तीर्थंकरों के गर्भ, जन्म, दीक्षा और केवलज्ञान के चार कल्याणक हुए। ये तीनों तीर्थंकर पाचवे, छठवे, सातवें चक्रवर्ती भी थे।

अयोध्या की तरह हस्तिनापुर की भी रचना देवों ने की थी। यहाँ ऋषभदेव, मल्लिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर आदि कई तीर्थंकरों का पदार्पण हुआ था। यही पर भगवान ऋषभदेव ने दीक्षा के बाद राजकुमार श्रेयास से प्रथम आहार लिया था। जिस दिन भगवान ने आहार लिया था, वह पावन तिथि वैशाख शुक्ला तृतीया थी। भगवान के आहार के कारण यह तिथि भी पवित्र हो गई और अक्षय तृतीया कहलाने लगी। राजकुमार श्रेयान्त का नाम दान-तीर्थ के प्रवर्तक के रूप में प्रसिद्ध हो गया और ससार में दान देने की प्रथा का प्रारम्भ भी इसी घटना के कारण हुआ।

सती सुलोचना श्रेयान्त के बड़े भाई राजा सोमप्रभ के पुत्र मेघेश्वर जयकुमार की पत्नी थी, जिनके शील की चमत्कारपूर्ण घटनाएँ प्रसिद्ध हैं। सोमप्रभ से सोमवश या चन्द्रवश चला। जयकुमार प्रथम चक्रवर्ती भरत का प्रधान सेनापति था।

चौथा चक्रवर्ती सन्तकुमार यही हुआ था। इस प्रकार लगातार चार चक्रवर्ती और तीन तीर्थंकर यहाँ हुए।

यही पर बलि आदि मन्त्रियो ने सात दिन का राज्य पाकर अकपनाचार्य के सघ के सात सौ मुनियो की बलि देकर यज्ञ-विधान का ढोंग रचा था। तब मुनि विष्णुकुमार ने वामन ब्राह्मण का रूप धरकर बलि से तीन पग घरती की याचना की थी। बलि द्वारा सकल्प करने पर मुनिराज ने विक्त्रियात्रुद्धि से अपना शरीर बढ़ाकर एक पग सुमेरु पर्वत पर रक्खा। दूसरा पग मानुषोत्तर पर्वत पर रक्खा। अब तीसरे पग लायक भूमि की माग उन्होंने की। सारे लोक में आतंक छा गया। बलि आदि चारो मन्त्री भय के मारे कापने लगे। वे मुनि विष्णुकुमार के चरणों में गिरकर क्षमा मागने लगे। तत्काल मुनियो के चारो ओर लगाई हुई आग बुझाई गई। सब लोगो ने मुनियो की पूजा की और साधर्मिवात्सल्य के नाते परस्पर में रक्षा सूत्र बाधा। तबसे इस घटना की स्मृति में रक्षा-बन्धन का महान पर्व प्रचलित हो गया जो श्रावण शुक्ला पूर्णिमा को उल्लासपूर्वक मनाया जाता है।

यही पर पाण्डव और कौरव हुए थे और राज्य के लिए दोनो पक्षों में महाभारत नामक प्रसिद्ध महायुद्ध हुआ था।

एक बार दमदत्त नामक मुनि उद्यान में विराजमान थे। कौरव उधर से निकले। मुनि को देखते ही वे उन पर पत्थर बरसाने लगे। थोड़ी देर बाद पाण्डव आये। उन्होंने मुनिराज की चरण-बन्दना की और पत्थर हटायें। मुनि तो ध्यानलीन थे। उन्हें उसी समय केवलज्ञान हो गया।

कवि बनारसीदास के 'अर्धकथानक' से ज्ञात होता है कि सन् १६०० में कविवर ने यहाँ की सकुटुम्ब यात्रा की थी। 'अर्धकथानक' से यह भी ज्ञात होता है कि उस काल में भी यहाँ जैन यात्री यात्रा के लिए बराबर आते रहते थे।

वर्तमान मन्दिर का भी बड़ा रोचक इतिहास है। यहाँ पर सवत् १८५८ में ज्येष्ठ वदी तेरस को मेला था। इसमें दिल्ली से राजा हरमुखराय, शाहपुर से लाला जयकुमारमल आदि समाजमान्य सज्जन आये थे। सभी लोग चाहते थे कि यहाँ जैन मन्दिर बनना चाहिये। प्राचीन मन्दिर टूट-फूट गये थे। नसियो की हालत खस्ता थी। लोगो ने राजा हरमुखराय से मन्दिर-निर्माण की प्रार्थना की। राजा साहब मुगल बादशाह शाह आलम के खजाची थे और उनका बड़ा प्रभाव था। राजा साहब ने मन्दिर बनाने की स्वीकृति दे दी। लेकिन मन्दिर बनने में कठिनाई यह थी कि शाहपुर के गूजर जैन मन्दिर बनाने का विरोध करते थे। यह इलाका बहसूमे के गूजर नरेश नैनसिंह के अधिकार में था। राजा नैनसिंह के मित्र लाला जयकुमारमल भी वहाँ मौजूद थे। राजा साहब ने उनसे प्रेरणा की कि आप नैनसिंह जी से कह कर काम करा दीजिये। लाला जी ने अवसर देखकर नैनसिंह से मन्दिर की चर्चा छेड़ दी। उसमें राजा साहब का भी जिक्र आया। नैनसिंह जी राजा साहब से कई मामलों में आभार से दबे हुए थे। अतः उन्होंने मजूरी दे दी और मन्दिर का शिलान्यास करने की भी स्वीकृति दे दी।

दूसरे ही दिन सैकड़ों लोगो की उपस्थिति में राजा नैनसिंह ने मन्दिर की नींव में पांच ईंटें अपने हाथ से रक्खी। राजा हरमुखराय के धन श्रेष्ठ लाला जयकुमारमल की देख-रेख में मन्दिर का निर्माण हुआ। जब मन्दिर का कार्य कुछ बाकी रह गया, तब राजा साहब ने जनता की उपस्थिति में समाज के पंचों से हाथ जोड़कर निवेदन किया—सरदारो! जितनी मेरी शक्ति थी, उतना मैंने कर दिया। मन्दिर आप सबका है। इसलिये इसमें सबको मदद करनी चाहिये।' वहाँ एक घड़ा रख दिया गया। सबने उसमें अपनी शक्ति के अनुसार दान डाला। लेकिन जो धन उससे सग्रह हुआ, वह बहुत कम था। राजा साहब का उद्देश्य इतना ही था कि मन्दिर पचायतो रहे और वे अहंकार में ग्रस्त न हो जायें।

सवत् १८६३ में राजा साहब ने कलशारोहण और वेदी प्रतिष्ठा का कार्य सम्पन्न कराया। सवत् १८६७ में लाला जयकुमारमल ने मन्दिर का विशाल द्वार बनवाया। मन्दिर के चारों ओर पांच विशाल घर्मशालायें हैं।

सन् १८५७ में गदर के समय गूजरो ने इस मन्दिर को लूट लिया। वे लोग मूलनायक पार्श्वनाथ की प्रतिमा भी उठा ले गये। बाद में फिर एक बार मन्दिर को लूटा। नया मन्दिर दिल्ली से भगवान शान्तिनाथ की

प्रतिमा ले जाकर मूल नायक के रूप में विराजमान कर दी गई। उसके कारण यह शान्तिनाथ का मन्दिर कहा जाने लगा।

--

इस मन्दिर के पीछे एक मन्दिर और है। मन्दिर में तीन मील की दूरी पर नशियां बनी हुई हैं। तागे मिलते हैं। रास्ता कच्चा है। सबसे पहले भगवान शान्तिनाथ की नशियां हैं। उसमें भगवान के चरण-चिन्ह हैं। फिर कुछ दूर जाने पर एक कम्पाउण्ड में अरुनाथ और कुन्धुनाथ की नशियां हैं। इन दोनों में भी चरण-चिन्ह बने हुए हैं। इनमें आगे एक कम्पाउण्ड में भगवान मल्लिनाथ की टोका है।

अष्टादश परिच्छेद

भगवान् कुन्थुनाथ

जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में सीता नदी के दक्षिणी तट पर वत्स नामक देश था। उसकी सुसीमा नगरी में राजा सिंहस्थ राज्य करता था। उसने अपने पराक्रम से समस्त शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर ली थी और निष्कण्टक राज्य कर रहा था। एक दिन उसने उल्कापात होते हुए देखा। उसे देखकर उसके **पूर्व भव** मन में ससार के भोगों की क्षणभंगुरता की ओर दृष्टि गई और उसने भोगों को निस्सार समझकर उन्हें छोड़ने का सकल्प कर लिया। वह राजपाट, परिवार का त्यागकर मुनि यति-वृषभ के समीप गया और उन्हें नमस्कार कर सम्पूर्ण आरम्भ-परिग्रह का त्याग कर दिया। उनके साथ अनेक राजाओं ने भी मुनि-दीक्षा ले ली। मुनि सिंहस्थ गुरु के समीप रहकर घोर तपस्या करने लगे। उन्होंने ग्यारह अंगों का ज्ञान प्राप्त किया और सोलह कारण भावनों का निरन्तर चिन्तन करने लगे। फलतः उन्हें तीर्थङ्कर नामकर्म की पुण्य प्रकृति का बन्ध हो गया। आयु के अन्त में समाधिमरण कर सर्वार्थ सिद्धि अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र हुए।

हस्तिनापुर नगर के कौरववंशी काश्यपगोत्री श्री महाराज सूरसेन थे। उनकी महारानी का नाम श्रीकाता था। महारानी ने श्रावण कृष्णा दसमों के दिन कृतिका नक्षत्र में रात्रि के अन्तिम प्रहर में जब सर्वार्थसिद्धि के उस अहमिन्द्र की आयु समाप्त होने वाली थी, सोलह शुभ स्वप्न देखे और बाद में मुख में प्रवेश **गर्भ कल्याणक** हुआ हाथी देखा। तभी अहमिन्द्र का वह जीव महारानी के गर्भ में अवतीर्ण हुआ। प्रातः, लव बन्दीजनों के मंगलगान से महारानी को नींद खुली। स्वप्नों के प्रभाव से महारानी के मन में बड़ा उल्लास था। उन्होंने नित्य कार्य कर स्नान किया, मांगलिक वस्त्राभूषण पहने और दासियों से परिवेष्टित होकर राजसभा में पधारी। उन्होंने महाराज की यथायोग्य विनय की। महाराज ने उन्हें बड़े आदरसहित वाम पार्श्व में स्थान दिया। महारानी ने महाराज से अपने स्वप्नों की चर्चा करके उनके फल पूछे। महाराज ने अवधिज्ञान से जानकर उनका फल बताया। फल सुनकर महारानी का मन हर्ष से भर गया। तभी देवों ने आकर महाराज सूरसेन और महारानी श्रीकाता का गर्भ कल्याणक सम्बन्धी अभिषेक किया और पूजा की।

नौ मास व्यतीत होने पर वैशाख शुक्ला प्रतिपदा के दिन आग्नेय योग में महारानी ने पुत्र प्रसव किया। उस समय इन्द्र और देव आये और बालक को लेकर सुमेरु पर्वत पर ले गये। वहाँ क्षीरसागर के जल से उस दिव्य बालक का अभिषेक किया, उसका दिव्य वस्त्रालंकारों से शृंगार किया। इन्द्र ने बालक का **जन्म कल्याणक** नाम कुन्थुनाथ रक्खा। उसके चरण में बकरे का चिन्ह था, जिस पर इन्द्र की सवप्रथम दृष्टि पड़ी। इसलिये उस बालक का साकेतिक चिन्ह बकरा माना गया। फिर इन्द्र और देव बालक को वापिस लाये और उसे माता-पिता को सोपकर आनन्दोत्सव किया। पिता ने भी नगरी में धूमधाम के साथ बालक का जन्मोत्सव मनाया। देव लोग उत्सव मनाकर अपने अपने स्थान पर चले गये।

शान्तिनाथ तीर्थङ्कर के मोक्ष जाने के बाद जब आवा पत्यु बीत गया, तब कुन्थुनाथ भगवान् का जन्म हुआ था। उनकी आयु भी इसी काल में सम्मिलित थी। उनकी आयु पचानव हजार वर्ष थी। उनका शरीर पेंतीस धनुष उन्नत था। सुवर्ण के समान उनके शरीर की कांति थी। जब तेईस हजार सात सौ **दीक्षा कल्याणक** पचास वर्ष कुमारकाल के व्यतीत हो गए, तब पिता ने उनका राज्याभिषेक और योग्य कन्याओं

के साथ उनका विवाह कर दिया। राज्य करते हुए इतना ही काल व्यतीत हो गया, तब उनकी आयुधशाला में चक्र आदि शस्त्र तथा चक्रवर्ती पद के योग्य अन्य रत्न और सामग्री प्राप्त हुई। उन्होंने विशाल मेना लेकर भरत क्षेत्र के छह खण्डों पर विजय प्राप्त कर चक्रवर्ती पद प्राप्त किया। सारे भरत क्षेत्र के वत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजा उनके आज्ञानुवर्ती थे। उन्हें समस्त सासारिक भोग उपलब्ध थे। भोग भोगते हुए और साम्राज्य लक्ष्मी का भोग करते हुए उन्हें तेईस हजार सात सौ पचास वर्ष बीत गये। वे तीर्थंकर थे, चक्रवर्ती थे और कामदेव थे। उनका रूप, वैभव, और पुण्य असाधारण था। कोई ऐसा सासारिक सुख नहीं था, जो उन्हें अप्राप्त था।

एक दिन वे वन विहार के लिये गये। मंत्री उनके साथ थे। उन्होंने देखा—एक निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि आतापन योग से स्थित है। उन्होंने उनकी ओर सवेत करके मंत्री से उनकी प्रशंसा की—‘देखो मंत्रीवर ! ये मुनि कितना घोर तप कर रहे हैं।’ मंत्री ने नतमस्तक होकर मुनिराज की वन्दना की और प्रभु से पूछा—‘देव ! इतना कठिन तप करके इनको क्या फल मिलेगा ?’ प्रभु बोले—‘ये मुनि कर्मों को नष्ट करके इसी भव से मोक्ष प्राप्त करेंगे। जो परिग्रह और आरम्भ का त्याग करते हैं, वे ही ससार के परिभ्रमण में मुक्ति प्राप्त करते हैं। ससार-भ्रमण का कारण यह आरम्भ-परिग्रह ही है।’

वस्तुतः भगवान ने मंत्री को जो कुछ कहा था, वह उपदेश मात्र नहीं था, अपितु भगवान के सतत चिन्तन की उस दिशा का संकेत था, जो सासारिक भोग भोगते हुए भी वे सासारिक भोगों की व्यर्थता, ससार के स्वरूप और आत्मा के त्रिकाली स्वभाव के सम्बन्ध में निरन्तर किया करते थे। वास्तव में वे भोगों में कभी लिप्त नहीं हुए। वे भोगों का नहीं, भोग्य कर्मों का भोग कर रहे थे और चिन्तन द्वारा भोग-काल को अल्प कर रहे थे। एक दिन इस चिन्तन के क्रम में उन्हें अपने पूर्व जन्म का स्मरण हो आया। इससे उन्हें आत्मज्ञान हो गया। चिन्तन के फलस्वरूप उन्हें भोगों से अरुचि हो गई और उन्होंने दीक्षा लेने का निश्चय किया। लौकान्तिक देवों ने आकर भगवान की वन्दना की और निवेदन किया—‘धन्य है प्रभु आपके निश्चय को। अब आप धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन कीजिये। ससार के दुखी प्राणी आपकी ओर आशा भरी निगाहों से निहार रहे हैं।’

भगवान ने अपने पुत्र को राज्य का भार सौंप दिया। देवताओं ने शिविका लाकर उपस्थित की और प्रभु उस विजया पालकी में बैठकर नगर के बाहर सहेतुक वन में पहुँचे और वहाँ अपने जन्म-दिन—वैशाख शुक्ला प्रतिपदा के दिन कृत्तिका नक्षत्र में सायंकाल के समय वेला का नियम लेकर एक हजार राजाओं के साथ उन्होंने सम्पूर्ण पापों का परित्याग करके दीक्षा ग्रहण कर ली। उसी समय उन्हें मन पर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया। देवों ने भगवान का दीक्षा कल्याणक उत्सव मनाया।

दूसरे दिन विहार कर प्रभु हस्तिनापुर नगर में पवारे। वहाँ राजा धर्ममित्र ने आहार देकर प्रभु का पारण कराया। देवों ने पचाश्चर्य किये।

विविध प्रकार के घोर तप करते हुए भगवान ने छद्मस्थ अवस्था के सोलह वर्ष बिताये। फिर विहार करते हुए वे दीक्षा-वन में पवारे। वहाँ तिलक वृक्ष के नीचे वेला का नियम लेकर विराजमान हो गये। वही चैत्र शुक्ला तृतीया के दिन सायंकाल के समय कृत्तिका नक्षत्र में मोह का नाश करके केवलज्ञान केवलज्ञान प्राप्त किया। तभी हर्ष और भाव-भक्ति से युक्त देव और इन्द्र आये। कुबेर ने समवसरण की रचना की। उसमें गन्धकुटी में अशोक वृक्ष के नीचे सिंहासन पर विराजमान होकर भगवान ने धर्म का स्वरूप देवों, मनुष्यों और तिर्यचों को सुनाकर धर्म-तीर्थ की स्थापना की और तीर्थंकर पद की सार्थकता की।

भगवान का संघ—भगवान ने चतुर्विध संघ की स्थापना की। उस संघ में स्वयम्भू आदि पैंतीस गणधर थे। ७०० मुनि पूर्व के ज्ञाता थे। ४३१५० शिक्षक, २५०० अवधिज्ञानधारी, ३२०० केवलज्ञानी, ५१०० विक्रिया ऋद्धि के धारक, ३३०० मन पर्ययज्ञानी और २०५० सर्वश्रेष्ठ वादी थे। इस प्रकार ६०००० मुनि उनके संघ में थे।

भाविता आदि ६०३५० आर्यिकायें थीं । ३००००० श्राविकायें थीं और २००००० श्रावक थे । असख्यात देव-देवियाँ और सख्यात तिर्यच थे ।

परिनिर्वाण—भगवान धर्मोपदेश करते हुए अनेक देशों में धर्म विहार करते रहे । जब उनकी आयु में एक मास शेष रह गया तो भगवान सम्मोदशिखर पधारे । वहाँ उन्होंने एक हजार मुनियों के साथ प्रतिमा योग धारण कर लिया और वैशाख शुक्ला प्रतिपदा के दिन रात्रि के पूर्व भाग में कृत्तिका नक्षत्र का उदय रहते हुए समस्त कर्मों का नाश कर सिद्ध बुद्ध मुक्त हो गये ।

यक्ष-यक्षिणी—आपका सेवक गन्धर्व यक्ष और जया यक्षिणी थी ।



एकोनविंशति परिच्छेद

भगवान् अरनाथ

जम्बूद्वीप मे सीतानदी के उत्तर तट पर कच्छ नामक देश था। उसमे क्षेमपुर नगर था, जिसका अधिपति धनपति नामक राजा था। वह प्रजा का रक्षक था, प्रजा उसे हृदय से प्रेम करती थी। उसके राज्य मे राजा और प्रजा सब लोग अपनी-अपनी वृत्ति के अनुसार त्रिवर्ग का सेवन करते थे, अतः धर्म की परम्परा पूर्ण भव निर्वाध रूप से चल रही थी। एक दिन राजा भगवान् अर्हन्तन्दन तीर्थकर के दर्शन के लिए गया और उनका उपदेश सुनकर उसके मन मे आत्म-कल्याण की भावना जागृत हुई। उसने अपना राज्य अपने पुत्र को दे दिया और भगवान् के निकट जैनश्वरी दीक्षा ले ली। वह भगवान् के चरणों मे रहकर तप करने लगा तथा शीघ्र ही ग्यारह अंग का पारगामी हो गया। वह निरन्तर सोलह कारण भावनाओं का चिन्तन करता था। फलतः उसे तीर्थकर नामक सातिशय पुण्य प्रकृति का बन्ध हो गया। अन्त मे प्रायोपगमन मरण करके जयन्त नामक अनुत्तर विमान मे अहमिन्द्र पद प्राप्त किया।

कुरुजागल देश के हस्तिनापुर नगर मे सोमवश के भूषण काश्यप गोत्री महाराज सुदर्शन राज्य करते थे। उनकी महारानी मित्रसेना थी। जब उस अहमिन्द्र की आयु मे छह माह शेष थे, तभी से महाराज के महलों मे रत्न-चर्चा होने लगी। जब अहमिन्द्र की आयु समाप्त होने वाली थी, तभी महारानी ने फाल्गुन शुक्ल तृतीया के दिन रेवती नक्षत्र मे रात्रि के अन्तिम प्रहर मे तीर्थकर जन्म के सूचक सोलह स्वप्न देखे तथा स्वप्नों के अन्त मे उसने मुख मे एक विशालकाय हाथी प्रवेश करते हुए देखा। तभी अहमिन्द्र का जीव स्वर्ग से चयकर महारानी के गर्भ मे आया। प्रातः काल होने पर महारानी स्नानादि से निवृत्त होकर शृङ्गार करके महाराज के निकट पहुँची और महाराज के वाम पार्श्व मे आसन ग्रहण करके उन्होंने रात मे देखे हुए अपने स्वप्नों की चर्चा उनसे की तथा उनसे स्वप्नों का फल पूछा। महाराज ने अवधिज्ञान से विचार कर कहा—देवी! तुम्हारे गर्भ में जगत का कल्याण करने वाले तीर्थकर भगवान् अवतरित हुए हैं। फल सुनकर माता को अपार हर्ष हुआ। तभी देवी ने आकर भगवान् के गर्भ कल्याणक का उत्सव किया।

नौ माह व्यतीत होने पर महारानी मित्रसेना ने मगसिर शुक्ल चतुर्दशी के दिन पुण्य नक्षत्र मे एक हजार आठ लक्षणों से सुशोभित और तीन ज्ञान का धारी पुत्र उत्पन्न किया। उनके जन्म से तीनों लोकों के जीवों को शान्ति का अनुभव हुआ था। उस असाधारण पुण्य के स्वामी पुत्र के जन्म लेते ही चारों प्रकार के देव और इन्द्र अपनी-अपनी देवियों और इन्द्राणियों के साथ तीर्थकर बालक का जन्म कल्याणक महोत्सव मनाने वहाँ आये। वे पुत्र को सुमेरु पर्वत पर ले गये और वहाँ क्षीरसागर के जल से परिपूर्ण स्वर्ण कलश से उन्होंने बालक का अभिषेक करके महान् उत्सव किया। उत्सव मनाकर वे लोग पुनः हस्तिनापुर आये। इन्द्राणी ने बालक को माता को सोपा। इन्द्र ने माता-पिता से देवी द्वारा मनाये गये उत्सव के समाचार सुनाये। सुनकर माता-पिता अत्यन्त हर्षित हुए। फिर उन्होंने पुत्र-जन्म का उत्सव मनाया। सौधमेन्द्र ने बालक का नामकरण किया और उसका नाम अरनाथ रक्खा। बालक के एक हजार आठ लक्षणों मे से पैंर मे बने हुए मीन चिह्न पर अभिषेक के समय इन्द्र की दृष्टि सबसे पहले पड़ी थी। इसलिए अरनाथ का लाक्षणिक चिह्न 'मीन' ही माना गया। भगवान् के शरीर का वर्ण सुवर्ण के समान था।

भगवान कुन्थुनाथ के मोक्ष जाने के बाद जब एक हजार करोड वर्ष कम पत्य का चतुर्थ भाग बीत गया, तब अरनाथ भगवान का जन्म हुआ था। उनकी आयु भी इसी काल में सम्मिलित थी। उनकी आयु चौरासी हजार वर्ष की थी। तीस धनुष ऊँचा उनका शरीर था। कामदेव के समान उनका रूप था। ऐसा लगता था, मानो सौन्दर्य की समग्र सचित निधि से ही उनके शरीर की रचना हुई हो।

प्रभु धीरे-धीरे जीवन की ओर बढ़ रहे थे। जब उनकी कुमार अवस्था के इक्कीस हजार वर्ष बीत गये, तब पिता ने उन्हें राज्य सौंप दिया। उनका विवाह अनेक सुलक्षणा सुन्दर कन्याओं के साथ कर दिया। वे इक्कीस हजार वर्ष तक मण्डलेश्वर राजा के रूप में शासन करते रहे। तब उन्हें नौ निधियाँ और चौदह रत्न दीक्षा कल्याणक मिले। उन्होंने सम्पूर्ण भरत क्षेत्र को जीत कर चक्रवर्ती-पद प्राप्त किया। उन्हें चक्रवर्ती-पद के योग्य सम्पूर्ण वैभव प्राप्त था। इस प्रकार भोग-भोगते हुए जब आयु का तीसरा भाग बाकी रह गया अर्थात् जब अट्ठाईस हजार वर्ष की आयु बाकी थी, तब उन्होंने एक दिन देखा—शरदऋतु के बादल आकाश में इधर-उधर तैरते डोल रहे हैं। वे प्रकृति के इस सलौने रूप को निहार रहे थे कि देखते-देखते बादलों का नाम तक न रहा, वे अकस्मात् ही अदृश्य हो गये। इस दृश्य का भगवान के मन पर गहरा प्रभाव पड़ा और इस दृश्य से उन्हें जीवन की वास्तविकता का अन्तर्बोध हुआ। उन्होंने तभी निश्चय कर लिया कि अब इस जीवन का एक भी अमूल्य क्षण भोगों में व्यय नहीं करना है, अभी तो आत्म-कल्याण करना है और जीवन क्षण पल बनकर छीजता जा रहा है। तभी लौकान्तिक देवों ने आकर उनके सद्विचारों का समर्थन किया और जगत्कल्याण के लिए तीर्थ-प्रवर्तन का अनुरोध करके वे अपने स्वर्ग को लौट गये। भगवान ने फिर जरा भी विलम्ब नहीं लगाया। उन्होंने अपने पुत्र अरविन्द कुमार को राज्य सौंप दिया और देवों द्वारा उठायी हुई वैजयन्ती नामक पालकी में बैठकर सहेतुक वन में पहुँचे। वहाँ बेला का नियम लेकर मगसिर शुक्ला दशमी के दिन रेवती नक्षत्र में सन्ध्या के समय एक हजार राजाओं के साथ दीक्षा ले ली। दीक्षा धारण करते ही वे चार ज्ञान के धारी हो गये। देवों ने भगवान का दीक्षा कल्याणक उत्सव मनाया।

भगवान पारणा के लिए चक्रपुर नगर में पधारे। वहाँ राजा अपराजित ने भगवान को प्रासुक आहार देकर अक्षय पुण्य सचय किया। देवों ने पचाश्चर्य किये। आहार लेकर भगवान विहार कर गये और तपस्या करने लगे।

भगवान नाना प्रकार के कठिन तप करते हुए विहार करते हुए दीक्षा वन में पधारे और एक आश्रवृक्ष के नीचे बेला का नियम लेकर पद्मासन मुद्रा में ध्यानारूढ हो गये। वे शुक्लध्यान द्वारा घातिया कर्मों का उन्मूलन करने लगे। वे अप्रमत्त दशा में आठवें, नौवें और दसवें गुणस्थान में पहुँचकर क्षपक श्रेणी में केवलज्ञान कल्याणक आरोहण करके बारहवें गुणस्थान में पहुँचे। बारहवें गुणस्थान के प्रारम्भिक भाग में उन्होंने मोहनीय कर्म का नाश कर दिया और उसके उपान्त्य समय में उन्होंने ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का नाश किया। इस प्रकार उन्हें कार्तिक शुक्ला द्वादशी के दिन रेवती नक्षत्र में सायंकाल के समय अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य नामक चार क्षायिक गुण प्रगट हुए। वे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी बन गये। तीर्थकर नाम कर्म के उदय से उन्हें अष्ट प्रातिहार्य की प्राप्ति हुई। देवों ने आकर भगवान के केवलज्ञान कल्याणक की पूजा की और देवों द्वारा निमित्त समवसरण सभा में देवों, मानवों और तिर्यचों को उन्होंने अपना प्रथम उपदेश दिया, जिसे सुनकर अनेक मनुष्यों ने सकल सयम धारण किया, अनेक मनुष्यों और तिर्यचों ने श्रावक के व्रत ग्रहण किये, अनेक जीवों को सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई।

भगवान का परिकर—भगवान ने चतुर्विध सघ की पुन स्थापना की। उनके सघ में कुम्भार्य आदि तीस गणधर थे, ६१० ग्यारह अ ग चौदह पूर्व के वेत्ता थे, ३५८३५ सूक्ष्म बुद्धि के धारक शिक्षक थे, २८०० अवधिशानी थे, २८०० केवलज्ञानी थे, ४३०० विक्रिया ऋद्धिधारी थे, २०५५ मन पर्ययज्ञानी थे, १६०० श्रेष्ठ वादी थे। इस प्रकार कुल मुनियों की सख्या ५०००० थी। यक्षिला आदि ६०००० अजिकाये थी। १६०००० श्रावक और ३००००० श्राविकायें थी। असख्यात देव और सख्यात तिर्यच उनके भक्त थे।

निर्वाण कल्याणक—भगवान बहुत समय तक अनेक देशों में विहार करते हुए धर्मोपदेश द्वारा अनेक जीवों का कल्याण करते रहे। जब उनकी आयु एक माह शेष रह गई, तब उन्होंने सम्मेद शिखर पर जाकर एक हजार मुनियों के साथ प्रतिमा योग धारण कर लिया और योग निरोध करके चंद्र कृष्ण अमावस्या के दिन रेवती नक्षत्र में रात्रि के पूर्व भाग में अघातिया कर्मों का नाश करके निर्वाण प्राप्त किया। उसी समय इन्द्रो ने आकर भगवान के निर्वाण कल्याणक की पूजा की और स्तुति की।

यक्ष-यक्षिणी—भगवान अरनाथ का सेवक महेन्द्र यक्ष और सेविका विजया यक्षी थी।



सुभौम चक्रवर्ती

भरत क्षेत्र में भूपाल नाम का एक राजा था। एक बार शत्रुओं ने राजा भूपाल के राज्य पर आक्रमण कर दिया। भयानक युद्ध हुआ। युद्ध में भूपाल हार गया। अपनी पराजय से वह इतना खिन्न हुआ कि उसने ससार से विरक्त होकर सम्भूत नामक मुनिराज के समीप मुनि-दीक्षा ले ली और घोर तप करने लगा। किन्तु उसके मन से पराजय की शल्य निकल नहीं सकी और उसने कषायवश यह निदान किया कि अगर मेरे तप का कुछ फल हो तो मैं आगामी भव में चक्रवर्ती बनूँ। मिथ्यात्ववश उसने ऐसा निन्द्य विचार किया। वह तप करता रहा किन्तु उसका यह तप मिथ्या तप था। आयु के अन्त में वह समाधिमरण करके महाशुक्र स्वर्ग में ऋद्धिधारी देव बना। वह सोलह सागर तक स्वर्ग के सुखों का सानन्द भोग करता रहा।

परशुराम का जन्म—कोशल देश की अयोध्या नगरी में इक्ष्वाकुवशी राजा सहस्रबाहु राज्य करता था। उसकी महारानी का नाम चित्रमती था। चित्रमती कान्यकुब्ज नरेश पारत की पुत्री थी। रानी के एक पुत्र हुआ, जिसका नाम कृलवीर रखा गया।

राजा सहस्रबाहु के काका शतविन्दु की स्त्री का नाम श्रीमती था। श्रीमती राजा पारत की बहन थी। उनके जमदग्नि नामक एक पुत्र था। पुत्र उत्पन्न होने के कुछ समय बाद ही श्रीमती का देहान्त हो गया। जमदग्नि जब बड़ा हुआ तो उसे माँ का अभाव खटकने लगा। वह बहुत दुखी रहने लगा। इसलिये विरक्त होकर वह तापस बन गया और तप करने लगा। उसके सिर पर जटाओं का गुल्म बन गया और मुख दाढ़ी मूँछ से भर गया।

दो देव, जिनमें एक सम्यग्दृष्टि था और दूसरा मिथ्यादृष्टि, तापस जनो की परीक्षा लेने के लिये चिडा-चिडिया का रूप बना कर आये। जमदग्नि ऋषि समाधि में लीन थे। अवसर देखकर चिडा-चिडिया ने ऋषि की दाढ़ी से ही बसेरा कर लिया। कुछ समय बाद चिडा बना हुआ सम्यग्दृष्टि देव चिडिया से बोला—‘प्रिये! मैं दूसरे वन में जाता हूँ। जब तक मैं वापिस न आऊँ, तब तक तुम यही पर रहना।’ चिडिया बोली—‘मुझे तेरा विश्वास नहीं है। यदि तुझे जाना है तो सौगन्ध देजा।’ चिडा बोला—‘अच्छी बात है। लेकिन क्या सौगन्ध दूँ?’ चिडिया बोली—‘तू यह सौगन्ध दे कि यदि मैं न आऊँ तो इस तापस की गति को प्राप्त होऊँ।’

ऋषि इस वार्तालाप को सुन कर अत्यन्त क्रुद्ध हो गये। उन्होंने चिडा-चिडिया को हाथों में पकड़ लिया और बोले—‘घोर तप के फलस्वरूप मुझे ब्रह्मलोक की प्राप्ति होने वाली है, तुमने उस लोक का तिरस्कार क्यों किया?’ चिडा बोला—‘हम क्षुद्र प्राणी हैं, आप हम पर क्रोध न करें। किन्तु आपने क्या कभी यह विचार भी किया है कि इतनी घोर तपस्या के पश्चात् भी आपको अच्छी गति मिलने वाली नहीं है। ‘अपुत्रस्य गतिर्नास्ति’ यह ऋषि-वाक्य है अर्थात् पुत्रहीन को सद्गति नहीं मिलती। आप तो जन्म से ही ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कर रहे हैं। आपके कोई सन्तान तो होगी नहीं, फिर आप सद्गति की आशा कैसे कर रहे हैं?’

चिडा के वचन सुनकर जमदग्नि ऋषि सोच में पड़ गये—‘निश्चय ही ये पक्षी ठीक कहते हैं। ये तो मेरे उपकारी हैं। मुझे विवाह करके सन्तानोत्पत्ति करनी चाहिये।’ यह विचार कर उन्होंने पक्षियों को मुक्त कर दिया और वे कान्यकुब्ज नरेश पारत के यहाँ पहुँचे। पारत ने अपने भानजे के लक्षण देखे तो उसे सन्देह हुआ। उसने ऋषि से आने का प्रयोजन पूछा। ऋषि ने स्पष्ट वता दिया कि मैं विवाह करना चाहता हूँ। राजा पारत बोले—मेरे सौ पुत्रियाँ हैं। उनमें से तुम्हें जो स्वीकार करे, उसका विवाह तुम्हारे साथ कर दूँगा। जमदग्नि कन्याओं के पास गया। किन्तु उसकी तपोदग्ध भयकर आकृति को देखकर कन्यायें या तो भाग गई या फिर भय के मारे सज्ञाहीन हो गई। केवल एक छोटी कन्या कुतूहलवश खड़ी देखती रही। जमदग्नि राजा की आज्ञा से उसे लेकर चल दिये और उसके साथ विवाह करके रहने लगे। उस कन्या का नाम रेणुका था।

यथासमय उनके दो पुत्र उत्पन्न हुए—इन्द्र और श्वेतराम। दोनों ही सुलक्षण, रूपवान् और वीर थे।

एक दिन जमदग्नि के आश्रम में अरिजय नामक मुनि आये। वे रेणुका के बड़े भाई थे। रेणुका ने मुनि की वन्दना की। मुनि ने उसे उपदेश दिया, जिससे रेणुका ने सम्यग्दर्शन धारण किया। मुनि ने चलते समय कामधेनु नामक विद्या और मन्त्रपूत फरशा दिया और वहाँ से चले गये।

कुछ दिन पश्चात् अपने पुत्र कृतवीर के साथ राजा सहस्रबाहु जमदग्नि के आश्रम में आया। जमदग्नि ने अपने चचेरे भाई से भोजन का आग्रह किया, जिसे उसने स्वीकार कर लिया। जमदग्नि ने अभ्यागतों को सुस्वादु भोजन कराया। भोजन करके कृतवीर ने अपनी मौसी रेणुका से पूछा—‘ऐसा सुस्वादु षट्स व्यजन तो राजाओं को भी दुर्लभ है। फिर वन में रहने वाले आप लोगो ने ऐसा दुर्लभ सामग्री कहाँ से प्राप्त की?’ रेणुका ने सरलता-वश कामधेनु विद्या की प्राप्ति की सब बात उसे बता दी। सुनकर कृतवीर बोला—‘ससार में श्रेष्ठ वस्तु राजा की होती है।’ यह कहकर वह जबर्दस्ती कामधेनु लेकर जाने लगा। तब जमदग्नि ऋषि उसे रोकने के लिये रास्ता रोक कर खड़े हो गये। कृतवीर ने क्रोध में भरकर जमदग्नि को मार दिया और अपने नगर की ओर चला गया।

पति की मृत्यु से रेणुका शोकाकुल होकर विलाप करने लगी।

परशुराम द्वारा सहस्रबाहु का सहार—जब दोनों पुत्र वन से कन्दमूल फल लेकर लौटे तो माता का रुदन सुनकर वे बड़े दुःखित हुए। पूछने पर उन्हें सारा वृत्तान्त ज्ञात हुआ। सब बात सुनकर उन्हें भयकर क्रोध आया। माता को सान्त्वना देकर फरशा लेकर दोनों भाई मुनिकुमारों को साथ लेकर वहाँ से चल दिये और वे अयोध्या नगरी में पहुँचे। वहाँ उनका राजा के साथ भयानक युद्ध हुआ। युद्ध में इन्द्र राम ने फरशे के प्रहार से सहस्रबाहु का वध कर दिया तथा वह सहस्रबाहु की शेष सन्तानों को मारने में जुट गया।

चित्रमती महारानी के बड़े भाई शाण्डिल्य तापस को पता चल गया कि इन्द्र राम, जिन्हें परशु के कारण लोग परशुराम कहने लगे थे, सहस्रबाहु के वध का उच्छेद करने के लिये दृढप्रतिज्ञ है। शाण्डिल्य राजप्रासाद में पहुँचा और रानी चित्रमती को लेकर गुप्तमार्ग से निकल गया और वन में सुबन्धु मुनिराज के समीप छिड़ आया।

रानी चित्रमती उस समय गर्भवती थी। गर्भ-काल पूरा होने पर वन में उसने तेज से देदीप्यमान पुत्र को जन्म दिया। वह भूमि का आश्लेषण करता हुआ उत्पन्न हुआ था। बालक महान् पुण्यवान् था। वन देवता उसकी रक्षा करते और लालन-पालन करते थे। एक दिन रानी ने मुनिराज से बालक का भविष्य

सुभौम का जन्म पूछा। अवधिज्ञानी मुनि बोले—‘पुत्री! तेरा यह पुत्र समस्त भरत क्षेत्र का अधिपति चक्रवर्ती बनेगा। चक्रवर्ती होने की पहचान यह है कि यह सोलहवें वर्ष में जब कड़ाई में उबलते हुए धी में सिकते हुए गरम पुत्रों को निकाल कर खा लेगा, तब समझना कि उसके चक्रवर्ती बनने का काल आ गया है। मुनि महाराज की यह भविष्यवाणी सुनकर माता को बड़ी सान्त्वना और शान्ति प्राप्त हुई।

सुभौम को चक्रवर्ती-पद की प्राप्ति—कुछ काल पश्चात् शाण्डिल्य तापस आकर अपनी वहन चित्रमती और बालक को अपने घर ले गया। चूँकि बालक पृथ्वी का आलिंगन करता हुआ उत्पन्न हुआ था, इसलिये उसका नाम सुभौम रक्खा गया। बालक धीरे-धीरे बढ़ने लगा। जब वह विद्या ग्रहण करने योग्य हुआ तो उसे शास्त्रों और शस्त्रों की शिक्षा देने की व्यवस्था कर दी। इस प्रकार बालक ने क्रमशः सोलहवें वर्ष में पदार्पण किया।

पिता के सहार से क्रुद्ध हुए रेणुका-पुत्रों ने प्रतिज्ञा की कि हम इस पृथ्वी को क्षत्रियों से रहित कर देंगे और उन्होंने इक्कीस बार क्षत्रियों का समूल नाश किया। उन्होंने अपने हाथों से मारे हुए राजाओं के सिर काटकर खम्भों में लटका रखे थे। इस प्रकार दोनों भाई क्षत्रियों का विनाश करके राज्यलक्ष्मी का निर्विघ्न भोग कर रहे थे। एक दिन निमित्तज्ञानी ने परशुराम से कहा—आपका शत्रु उत्पन्न हो गया है, इसका प्रतीकार कीजिये। शत्रु के पहचानने का उपाय यह है कि आपने मारे हुए राजाओं के जो दाँत इकट्ठे किये हैं, वे जिसके लिये भोजन रूप परिणत हो जायेंगे, समझ लीजिये, वही आपका शत्रु है।

निमित्तज्ञानी के वचन सुनकर परशुराम को बड़ी चिन्ता उत्पन्न हो गई। उन्होंने अविलम्ब भोजनशाला खुलवा दी और घोषणा करवा दी कि कोई भी व्यक्ति इस भोजनशाला में निःशुल्क भोजन कर सकता है। तथा कर्मचारियों को आदेश दे दिया कि जो भोजन का इच्छुक आवे, उसे पात्र में रखे हुए दाँत दिखा कर भोजन कराया जाय। इस प्रकार प्रति दिन अनेक लोग भोजन के लिये आने लगे।

एक दिन सुभौम ने अपनी माता से अपने पिता के बारे में पूछा। माता ने बड़े दुःख के साथ उसके पिता के साथ परशुराम ने जो व्यवहार किया था, वह विस्तारपूर्वक सुना दिया तथा यह भी बता दिया कि हम लोग अज्ञात-वास कर रहे हैं। सुनकर सुभौम ने अपने पिता की मृत्यु का प्रतिशोध लेने का संकल्प किया और तत्काल कुछ राज-कुमारों के साथ परिव्राजक वेश धारण करके अयोध्या की ओर चल दिया। अयोध्या में उसके पहुँचने से पहले ही नगर में नाना प्रकार के अपशकुन और अमंगल सूचक चिन्ह प्रगट होने लगे। नगर रक्षक देवता रुदन करने लगे, पृथ्वी काप उठी, दिन में तारे दिखाई देने लगे। नगरवासी ही नहीं, परशुराम भी इन अमंगल चिन्हों के कारण चिन्ता में पड़ गये।

सुभौम कुमार जब परशुराम की दानशाला में पहुँचे तो कर्मचारियों ने उन्हें उच्च आसन पर बैठाया और नियमानुसार मृत राजाओं के दाँत उन्हें दिखाये। सुभौम के पुण्य-प्रभाव से वे दाँत शालि चावलों के भात बन गये। सेवकों ने तत्काल इस घटना की सूचना राजा परशुराम को दी। राजा ने कुछ हृष्ट-पुष्ट सैनिकों को उस व्यक्ति को गिरफ्तार करके लाने के लिये भेजा। सैनिकों ने भोजनशाला में पहुँचकर सुभौम से कहा—‘तुम्हें राजा ने बुलाया है, तुम हमारे साथ चलो। अगर तुम नहीं चलोगे तो हम तुम्हें बलात् ले जायेंगे।’ सुभौम ने उन क्षुद्र सैनिकों से विवाद करना उचित नहीं समझा, किन्तु उन्हें जोर से डपट दिया। इतने मात्र से ही वे सैनिक भय के मारे आतंकित हो गये और वापिस चले गये। यह वृत्तान्त सुनकर परशुराम को बहुत क्रोध आया और सेना लेकर भोजनशाला को घेर लिया। सुभौम यह देखकर बाहर निकल आये और परशुराम के सामने आ डटे। परशुराम ने सेना को सुभौम का वध करने का आदेश दिया। किन्तु सुभौम के प्रबल पुण्य का उदय था, उनके चक्रवर्ती बनने का योग आ पहुँचा था। फिर उनका कोई क्या बिगाड़ सकता था। सेना उनके सामने अधिक समय तक नहीं ठहर सकी। यह देखकर परशुराम ने अपना हाथी सुभौम की ओर बढ़ाया। सुभौम के पुण्य माहात्म्य से एक गन्धराज मदोन्मत्त हाथी आ गया। वे उस हाथी पर आरोहण हो गये। इतना ही नहीं, एक हजार देवों से रक्षित चक्ररत्न भी उनके पास स्वतः आ गया। वे चक्ररत्न से सुशोभित होकर आगे बढ़े। परशुराम ने सुभौम का वध करने के लिये अपना अमोघ परशु फेंका। किन्तु उनका पुण्य क्षीण हो चुका था। उनके तो मृत्यु का योग था। सुभौम उस वार को बचा गये और उन्होंने चक्र द्वारा परशुराम का वध कर दिया। इक्कीस बार पृथ्वी को क्षत्रियहीन करने वाले परशुराम काल कवलित हो गये।

सुभौम भगवान् अरनाथ के तीर्थ में उत्पन्न हुआ था। वह आठवाँ चक्रवर्ती था। उसकी आयु साठ हजार वर्ष की थी। उसकी अवगाहना अट्ठाईस धनुष थी। सुवर्ण के समान उसके शरीर की कान्ति थी।

परशुराम की मृत्यु के बाद सेना ने युद्ध बन्द कर दिया। सुभौम ने सबको अभय दान दिया। तभी उनके शेष तेरह रत्न और नौ निधियाँ प्रगट हो गईं। वे छह खण्ड का आधिपत्य पाकर चक्रवर्ती बन गये और चिरकाल तक दस प्रकार के भोग भोगते रहे। उनके पास चक्रवर्ती पद की सम्पूर्ण विभूति थी।

सुभौम का एक रसोइया था अमृत रसायन। एक दिन रसोइया ने चक्रवर्ती को रसायना नामक स्वादिष्ट कढ़ी परोसी। किन्तु चक्रवर्ती यह नाम सुनते ही रसोइया से क्रुपित हो गया। उसके आदेश से रसोइया को कठोर दण्ड

दिया गया, जिससे वह अधमरा हो गया। उसने भी क्रोध में निदान किया कि मैं इससे बदला लूंगा। वह मरकर अल्प पुण्य के कारण ज्योतिष्क देव बना। उसे अवधिज्ञान से अपने पूर्वभव के वैर का स्मरण हो आया। वह बदला लेने की इच्छा से व्यापारी का वेष धारण कर आया और बड़े स्वादिष्ट फल सम्राट् को भेंट किये। इस प्रकार वह प्रतिदिन आता और राजा को वे ही फल भेंट करता। राजा को वे फल बड़े स्वादिष्ट लगते थे। एक दिन वह फल नहीं लाया। राजा ने इसका कारण पूछा तो उस देव ने उत्तर दिया—‘महाराज ! वे फल तो समाप्त हो गये। अब वे मिल भी नहीं सकते। जिस वन से मैं वे फल लाया था, उनकी रक्षा एक वनदेवी करती है। उसे प्रसन्न करके ही वे फल प्राप्त हो सकते हैं। यदि आपको वे फल प्रिय हैं तो आप मेरे साथ उस वन में चलिये और इच्छानुसार फल खाइये।’

चक्रवर्ती ने उसके साथ चलना स्वीकार कर लिया। मन्त्रियो ने चक्रवर्ती को रोकना भी चाहा, किन्तु वह नहीं माना और उस छद्मवेषी देव के साथ जहाज द्वारा चल दिया। वास्तव में चक्रवर्ती का पुण्य समाप्त हो गया था। महलो से निकलते ही चक्रवर्ती के चक्र आदि रत्न भी चले गये। वह देव चक्रवर्ती के जहाज को गहरे समुद्र में ले गया। वहाँ उस देव ने पूर्वभव के रसोइया का रूप बनाकर चक्रवर्ती को अपने प्रतिशोध की योजना बताई और फिर चक्रवर्ती को भयकर पीड़ा देकर मार डाला। चक्रवर्ती भयकर रौद्र ध्यान के कारण नरक में गया।

सुभौम चक्रवर्ती आठवाँ चक्रवर्ती था।

पुण्डरीक नारायण, निशुम्भ प्रतिनारायण

पूर्व भव—भगवान् अरनाथ के तीर्थ में नन्दिषेण बलभद्र, पुण्डरीक नारायण और निशुम्भ प्रतिनारायण हुए। ये छठे नारायण, प्रतिनारायण थे।

पुण्डरीक का जीव पहले तीसरे भव में राजकुमार था। सुकेतु नामक राजा से अपमानित होकर उसने अपने अपमान का बदला लेने का निदान बन्ध किया। अपने अपमान से दुखी होकर उसने दीक्षा ले ली। वह घोर तप करने लगा, किन्तु वह तपस्या करके भी मन से अपमान की शल्य दूर नहीं कर सका। वह मरकर पहले स्वर्ग में देव हुआ।

भरत क्षेत्र में चक्रपुर नामक नगर था। उस नगर का स्वामी इक्ष्वाकुवशी राजा वरसेन था। उसकी रानी का नाम लक्ष्मीमती था। उस देव का जीव आयु के अन्त में लक्ष्मीमती रानी के गर्भ में आया और उत्पन्न होने पर उसका नाम पुण्डरीक रखा गया। इसी राजा की वैजयन्ती रानी से नन्दिषेण नामक पुत्र हुआ। इन दोनों की आयु छप्पन हजार वर्ष की थी, शरीर छब्बीस धनुष ऊँचा था। दोनों भाइयों में स्वभावतः बड़ा प्रेम था।

सुकेतु का जीव अनेक योनियों में भ्रमण करता हुआ निशुम्भ नाम का राजा बना। वह महा अभिमानी और बड़ी क्रूर प्रकृति का था। सम्पूर्ण राजाओं को उसने वश में कर लिया था और राजा लोग उसके नाम से ही कापते थे। उन दिनों राजकुमार पुण्डरीक और नन्दिषेण का प्रभाव निरन्तर बढ़ रहा था। इससे निशुम्भ पुण्डरीक का अकारण शत्रु बन गया और उसे दण्ड देने के लिये उचित अवसर की प्रतीक्षा में था। तभी एक घटना घटित हो गई। इन्द्रपुर के राजा उपेन्द्रसेन ने अपनी पुत्री पद्मावती का विवाह पुण्डरीक के साथ कर दिया। निशुम्भ तो कोई बहाना चाहता था। उसने एक चतुर दूत पुण्डरीक के पास भेजा और उससे पद्मावती को देने का आदेश दिया। दोनों भाइयों ने दूत का अपमान करके निकाल दिया। निशुम्भ ने जब यह सुना तो वह मारे क्रोध के आग बबूला हो गया और विशाल सेना सजाकर पुण्डरीक के साथ युद्ध करने चल दिया। दोनों भाई भी सेना लेकर रणभूमि में आ डटे। दोनों सेनाओं में घनघोर युद्ध हुआ। निशुम्भ की सेनायें दोनों भाइयों की मार के आगे नहीं ठहर सकी। तब निशुम्भ स्वयं पुण्डरीक के साथ युद्ध करने आगे आया। दोनों वीरों में लोमहर्षक युद्ध होने लगा। तब क्रोध में

भरकर निशुम्भ ने पुण्डरीक के ऊपर देवाधिष्ठित चक्र फेंका । किन्तु चक्र प्रदक्षिणा देकर पुण्डरीक की दाईं भुजा पर आकर ठहर गया । तब पुण्डरीक ने चक्र लिया और उसे निशुम्भ के ऊपर चला दिया । निमिषमात्र में चक्र ने निशुम्भ का सिर उड़ा दिया ।

उसी चक्र से पुण्डरीक ने अपने भाई नन्दिषेण के साथ भरत क्षेत्र के तीनों खंडों पर विजय प्राप्त की और नारायण कहलाया । नन्दिषेण बलभद्र कहलाया । दोनों भाइयों ने प्रमपूर्वक चिरकाल तक प्राप्त हुई राज्यलक्ष्मी का भोग किया । पुण्डरीक अत्यन्त आरम्भ पारग्रह का धारक और रौद्र परिणामी था । उसने नरकायु का बन्ध किया और मरकर वह नरक में गया ।

नन्दिषेण को भ्रातृ-वियोग का गहरा शोक हुआ । इससे उन्हें ससार से वैराग्य हो गया । उन्होंने शिवघोष नामक मुनिराज के पास जाकर दीक्षा ले ली और तपश्चरण करने लगे । उनके परिणामों में निर्मलता और विशुद्धता आती गई । उन्होंने कर्मों की मूल और उत्तर प्रकृतियों का नाश करके परम पद मोक्ष प्राप्त किया ।

बलभद्र नन्दिषेण, नारायण पुण्डरीक और प्रतिनारायण निशुम्भ नारायण-प्रतिनारायण परम्परा में छठे थे ।



विंश परिच्छेद

भगवान् मल्लिनाथ

मेरु पर्वत के पूर्व मे कच्छकावती नामक देश मे वीतशोक नगर था । वैश्रवण वहाँ का राजा था । एक दिन वह राजा वन का सौंदर्य देखने एव वन-विहार के लिए गया । वन मे एक विशाल वटवृक्ष था, जिसकी शाखायें प्रशाखायें विस्तृत भूमिखण्ड के ऊपर फैली हुई थी । राजा ने उस वटवृक्ष की विशालता की प्रशंसा की । राजा प्रशंसा करता हुआ आगे बढ़ गया । लौटते समय वह फिर उसी मार्ग से वापिस आया । किन्तु महान् आश्चर्य की बात थी कि उस विशाल वटवृक्ष का कहीं पता भी न था । वल्कि उसके स्थान पर एक जला हुआ ठूँठ खड़ा था । इतने ही काल मे वज्र गिरने से वह वटवृक्ष जड़ तक जल गया था । उस दृश्य को देखकर राजा विचार करने लगा—जब इतने विशाल, उन्नत और बहुमूल्य वटवृक्ष की ऐसी दशा हो गई है तो इस निर्मूल मनुष्य-जीवन पर क्या विश्वास किया जा सकता है । उसे इस क्षणभंगुर जीवन से विराग हो गया । उसने अपने पुत्र को राज्य-भार सौंप दिया और श्रीनाग नामक मुनिराज के निकट प्रव्रज्या धारण कर ली । उसने नाना प्रकार के तपो द्वारा आत्मा को निर्मल किया, ग्यारह अगो का अध्ययन किया तथा निरन्तर सोलहकारण भावनाओं का चिन्तन किया, जिससे तीर्थकर नामकर्म का वन्ध किया । अन्त मे समाधि-मरण करके चौथे अपराजित नामक अनुत्तर विमान मे अहमिन्द्र बना ।

मिथिला नगरी के अधिपति इक्ष्वाकुवशी, काश्यप गोत्री महाराज कुम्भ की महारानी का नाम प्रजावती था । जब उस अहमिन्द्र की आयु मे छह माह शेष रह गये, तब देवो ने रत्नवृष्टि आदि द्वारा महाराज के नगर मे अचिंत्य वैभव प्रगट किया । जब उस अहमिन्द्र की आयु समाप्त होने वाली थी, उस दिन चैत्र शुक्ला प्रतिपदा को अश्विनी नक्षत्र मे रात्रि के अन्तिम प्रहर मे शुभफल को सूचित करने वाले महारानी ने सोलह स्वप्न देखे । बन्दीजनों के मंगल गान से महारानी की निद्रा भंग हुई । वे शय्या त्यागकर उठी और नित्य कर्म से निवृत्त होकर मांगलिक वस्त्रालंकार धारण करके महाराज के पास पहुँची । महाराज से स्वप्नो का फल सुनकर वे बड़ी हर्षित हुई । अहमिन्द्र का जीव महारानी के गर्भ मे अवतरित हुआ । देवो ने आकर भगवान् के गर्भ कल्याणक का उत्सव मनाया और माता-पिता की पूजा की तथा गर्भस्थ भगवान् को नमस्कार किया ।

माता गर्भ मे भगवान् को धारण करके अत्यन्त सुशोभित हो रही थी । उनका सौन्दर्य, कान्ति और लावण्य दिनो-दिन बढ़ता जा रहा था । गर्भ के कारण उन्हें कोई कष्ट या असुविधा का अनुभव नहीं होता था । इस प्रकार सुख से नौ मास बीतने पर महारानी प्रजावती ने मगसिर सुदी एकादशी को अश्विनी नक्षत्र मे पूर्ण चन्द्र के समान देदीप्यमान तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया । यह दिव्य बालक एक हजार आठ शुभ लक्षणो से युक्त था, तीन ज्ञान का धारक था । उसी समय समस्त देव और इन्द्रो ने आकर बाल भगवान् को ऐरावत हाथी पर विराजमान किया और सुमेरु पर्वत पर ले जाकर क्षीरसागर के पवित्र जल से उसका अभिषेक किया । इन्द्राणी ने उसे वस्त्राभूषण पहनाये । सौधर्मन्द्र ने बालक को नाम मल्लिनाथ रक्खा ।

भगवान सुवर्ण वर्ण के थे, उनका शरीर पच्चीस धनुष ऊँचा था, पचपन हजार वर्ग की उनकी आयु थी, दाहिने पैर में कलश का चिह्न था।

भगवान जब यौवन अवस्था को प्राप्त हुए, तब पिता ने उनके विवाह का आयोजन किया। विवाह के हर्ष में पुरजनों ने सारा नगर सजाया। सफेद पताकाओं और वन्दनमालाओं में नगर दुलहिन की तरह सजाया गया।

राजपथों और वीथिकाओं में मुगन्धित जल का सिंचन किया गया। किन्तु जिनके लिए यह सब दीक्षा कल्याणक आयोजन हो रहा था, वे इस सबसे निलिप्त थे। वे जीवन भर भोगों से उदामीन रहे। वह जीवनव्यापी साधना उन राग के क्षणों में भी चल रही थी। वे सोच रहे थे—वैतरागता का माहात्म्य अचिन्त्य है, राग में वह सुख कहाँ है। तभी उन्हें जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया और पूर्व जन्म में अपराजित विमान में भोगे हुए सुखों के बारे में सोचने लगे—जब स्वर्ग के वे भोग ही नहीं रहे तो उन नश्वर भोगों के सुख के लिए जीवन के अमूल्य समय का अपव्यय करने में कोई बुद्धिमत्ता नहीं है। इस प्रकार भोगों में विरक्त होकर उन्होंने सम्पूर्ण आरम्भ परिग्रह के त्याग का मकल्प किया। तभी लौकान्तिक देवों ने आकर भगवान को नमस्कार कर उनके सकल्प की सराहना की तथा उनमें प्रार्थना की—‘भगवन्! ससार के जीवों का कल्याण करने के लिए धर्म-तीर्थ के प्रवर्तन का अब काल आ पहुँचा है। भगवान दुखी प्राणियों पर करुणा करें।’ इस प्रकार कहकर वे देव अपने स्वर्ग में वापिस चले गये।

इन्द्रो और देवों ने आकर भगवान का दीक्षा कल्याणक महाभिषेक किया। फिर भगवान जयन्त नामक देवोपनीत पालकी में आरूढ़ होकर श्वेत वन में पहुँचे। वहाँ उन्होंने समस्त आरम्भ परिग्रह का त्याग करके मिद्ध भगवान को नमस्कार किया और केश लुत्तन करके प्रयोजित हो गए। उनके साथ में तीन सौ राजाओं ने भी सकल समय धारण कर लिया। उस दिन अग्रहण सुदी एकादशी थी, अश्विनी नक्षत्र था और सायंकाल का समय था। यह संयोग की ही बात थी कि भगवान ने अपने जन्म दिन, मास, नक्षत्र और पक्ष को दीक्षा भी ग्रहण की थी। समय के कारण भगवान को मन पर्यय ज्ञान की भी प्राप्ति हो गई।

भगवान तीसरे दिन पारणा के लिये मिथिलापुरी में प्रविष्ट हुए। वहाँ नन्दिषेण नामक राजा ने भगवान को प्रासुक आहार देकर अक्षय पुण्य का सचय किया। देवों ने पचाञ्चर्य किये।

केवलज्ञान कल्याणक—दीक्षा लेने के पश्चात् भगवान मल्लिनाथ छद्मस्थ दशा में केवल छह दिन रहे। उन्होंने यह समय तपस्या में बिताया। फिर वे दीक्षा वन में पहुँचे और दो दिन के उपवास का नियम लेकर वे अशोक वृक्ष के नीचे ध्यानारूढ़ हो गए। वही पर उन्हें पीप कृष्णा द्वितीया को पुनर्वसु नक्षत्र में लोकालोक प्रकाशक केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। देवों और इन्द्रों ने आकर भगवान के केवलज्ञान का उत्सव मनाया, समवसरण की रचना की। उसमें बैठकर भगवान ने दिव्यध्वनि के द्वारा धर्म-चक्र-प्रवर्तन किया। अनेक मनुष्यों, देवों और तिर्यञ्चों ने भगवान का उपदेश सुनकर सम्यग्दर्शन ग्रहण किया, अनेक मनुष्यों और तिर्यञ्चों ने मुनि और श्रावकों के योग्य समय धारण किया।

भगवान का सघ—भगवान के मुनि-सघ में विशाख आदि २८ गणधर थे। इनके अतिरिक्त ५५० पूर्वधारी २६००० महाविद्वान् शिक्षक, २२०० अवधिज्ञानी, २२०० केवलज्ञानी, १४०० वादी, २६०० विक्रिया ऋद्धिधारी, और १७५० मन पर्ययज्ञानी थे। इस प्रकार उनके मुनियों की कुल संख्या ४०००० थी। बन्धुषेणा आदि ५५००० अजिकार्ये थी। १००००० श्रावक और ३००००० श्राविकाये थी। असंख्यात देव और संख्यात तिर्यञ्च उनके भक्त थे।

निर्वाण कल्याणक—भगवान अनेक देशों में विहार कर अपने उपदेश से भव्य जीवों का कल्याण करते रहे। जब उनकी आयु एक माह शेष रह गई, तब वे सम्मेदाचल पर पहुँचे। वहाँ पाच हजार मुनियों के साथ उन्होंने प्रतिमा योग धारण किया और फाल्गुन शुक्ला पचमी को भरणी नक्षत्र में सध्या के समय निर्वाण प्राप्त किया। देवों ने आकर भगवान के निर्वाण कल्याणक की पूजा की।

यक्ष-यक्षिणी—इनके सेवक कुबेर यक्ष और अपराजिता यक्षिणी थे।

भगवान मल्लिनाथ की जन्म नगरी मिथिला—मिथिला नगरी उन्नीसवे तीर्थकर मल्लिनाथ और इक्कीसवें तीर्थकर नमिनाथ की जन्म नगरी है। यहाँ दोनों तीर्थकरों के गर्भ, जन्म, दोक्षा और केवलज्ञान कल्याणक हुए थे। इसलिए यह भूमि तीर्थभूमि है।

यहाँ अनेक सांस्कृतिक और पौराणिक घटनाये घटित हुई हैं।

—मिथिला नरेश पद्मरथ भगवान वासुपूज्य के गणघर सुधर्म का उपदेश सुनकर ससार से विरक्त हो गया। वह वासुपूज्य भगवान के चरणों में पहुँचा। वहाँ मुनि दीक्षा ले ली। मुनि पद्मरथ भगवान के गणघर बने। उन्हें अवधिज्ञान और मन पर्यय ज्ञान हो गया। पश्चात् उन्हें केवलज्ञान प्रगट हो गया और अन्त में वे मुक्त हो गए।

—जब हस्तिनापुर में अकपनाचार्य के सघ पर बलि आदि मन्त्रियों ने घोर उपसर्ग किया, उस समय मुनि विष्णुकुमार के गुरु मिथिना में ही विराजमान थे। उन्होंने क्षुल्लक पुष्पदन्त को घरणीघर पर्वत पर मुनि विष्णुकुमार के पास उपसर्ग निवारण के लिए भेजा। गुरु के आदेशानुसार मुनि विष्णुकुमार ने हस्तिनापुर में जाकर मुनि सघ का उपसर्ग दूर किया।

—मिथिला का राजा नमि मुनि बन गया। किन्तु तीन बार भ्रष्ट हुआ। फिर वह शुद्ध मन से मुनि-व्रत पालने लगा। एक बार एक गाँव में तीन अन्य मुनियों के साथ एक अवा के पास ध्यान लगाकर खड़ा था। कुम्हार आया और उसने अवा में आग सुलगाई। आग धू-धू करके जल उठी। चारों मुनि उसी में जल गये। वे शुद्ध भावों से श्रेणी आरोहण करके मुक्त हो गए।

—इसी नगर में राजा जनक हुए। उनकी पुत्री सीता थी जो ससार की सतियों में शिरोमणि मानी जाती हैं। जनक नाम नहीं, वह तो एक पदवी थी। सीता के पिता का नाम सीरध्वज जनक था।

इस वंश का अन्त कराल नामक जनक राजा के काल में हुआ। बौद्ध ग्रंथों और कौटिलीय अर्थशास्त्र के अनुसार उसने एक ब्राह्मण कन्या के साथ वलात्कार किया था। इससे प्रजा भडक उठी। उसने राजा को मार डाला। उस समय इस राज्य में सोलह हजार गांव लगते थे। इसके पश्चात् वहाँ राजतन्त्र समाप्त हो गया। जनता ने स्वेच्छा से गणतन्त्र की स्थापना की, जिसे विदेह गणतन्त्र कहा जाता था। इसे वज्जी सघ भी कहा जाता था। कुछ काल के पश्चात् वैशाली का लिच्छवि सघ और मिथिला का वज्जी सघ पारस्परिक सन्धि द्वारा मिल गये और दोनों का सम्मिलित सघ वज्जी सघ कहलाने लगा। तथा वज्जी सघ के अधिपति राजा चेटक को सयुक्त सघ का अधिपति मान लिया। इस सघ की राजधानी मिथिला से उठकर वैशाली में आ गई। यह नया वैशाली गण अत्यन्त शक्तिशाली बन गया। इन्हीं राजा चेटक की पुत्री त्रिशला से भारत की लोकोत्तर विभूति भगवान महावीर का जन्म हुआ। वैशाली गणसघ का धर्म जैन धर्म था। इस सघ का विनाश श्रेणिक विम्बसार के पुत्र अजातशत्रु ने किया। अजातशत्रु महारानी चेलना का पुत्र था। चेलना चेटक की सबसे छोटी पुत्री थी। इस प्रकार वैशाली अजातशत्रु की ननसाल थी।

मिथिला क्षेत्र कहाँ था, आज इसका कोई पता नहीं है। वर्तमान जनकपुर प्राचीन मिथिला की राजधानी का दुर्ग है। पुरनैलिया कोठी से ५ मील दूर पर सिमराओ नामक स्थान पर प्राचीन मिथिला नगरी के चिह्न अब तक मिलते हैं। नन्दनगढ़ के टीले से चाँदी का एक सिक्का मिला था, जो ईसा से १००० वर्ष पूर्व का बताया जाता है। लगता है, मिथिला तीर्थ यही कही आस पास में था।

यहाँ पहुँचने का मार्ग इस प्रकार है—सीतामढ़ी से जनकपुर रोड स्टेशन रेल द्वारा। वहाँ से जनकपुर २४ मील बस द्वारा। सीतामढ़ी या दरभंगा से नेपाल सरकार की रेलवे के जयनगर स्टेशन जा सकते हैं। वहाँ से उक्त रेलवे द्वारा जनकपुर १८ मील है।

पद्म चक्रवर्ती

भगवान मल्लिनाथ के तीर्थ में पद्म नामक नीवा चक्रवर्ती हुआ। चक्रवर्ती पर्याय से पहले तीसरे भव की यह कथा है। सुकच्छ देश के श्रीपुर नगर में प्रजापाल नामक एक राजा था। वह बड़ा वीर और न्यायी था। उसके राज्य में प्रजा बड़े आनन्दपूर्वक रहती थी। एक बार उल्कापात देखकर उसे जीवन की क्षणभंगुरता का ज्ञान हुआ। तत्काल उसने अपने पुत्र को राज्य सौंप दिया और वह शिवगुप्त भगवान के पास जाकर आत्म-कल्याण की अभिलाषा से सम्पूर्ण आभ्यन्तर और बाह्य आरम्भ और परिग्रह का त्याग कर प्रव्रजित हो गया। आठ प्रकार की शुद्धियों से उसका तप देदीप्यमान हो रहा था। अन्त में समाधि द्वारा मरण करके वह अच्युत स्वर्ग का इन्द्र बना।

काशी देश की वाराणसी नगरी में इक्ष्वाकु वंशी महापद्म नामक राजा राज्य करता था। उसकी रानी से पद्म आदि शुभ लक्षणों से मुशोभित पद्म नामक पुत्र हुआ। उसकी आयु तीस हजार वर्ष की थी। उसका शरीर चाँदीस धनुष उन्नत था। सुवर्ण के समान उसकी कान्ति थी। कुमार काल बीतने पर पिता चक्रवर्ती पद्म का जन्म ने उसे राज्य-भार सौंप दिया। उसके प्रबल पुण्य के योग से उसकी आयुष्यशाला में चक्र रत्न आदि वस्त्र उत्पन्न हुए। तब वह दिग्विजय के लिए निकला। उसने कुछ ही काल में सम्पूर्ण भरत क्षेत्र के राजाओं को अपना माण्डलिक बनाकर चक्रवर्ती पद प्राप्त किया। साथ ही उसको चौदह रत्न और नौ निधियों का लाभ हुआ। उसे दस प्रकार के भोग प्राप्त थे। समस्त सासारिक भोग उसे उपलब्ध थे, किन्तु वह इनमें कभी आसक्त नहीं हुआ। उसके दस पुत्रियाँ थी जो अत्यन्त सुन्दर और शीलवती थी। उसने उन पुत्रियों का विवाह सुकेतु विद्याधर के पुत्रों के साथ कर दिया।

एक बार चक्रवर्ती प्रकृति की शोभा निहार रहा था। आकाश में यत्र तत्र बादल के टुकड़े नदी में तैरते हुए राजहंसों के समान इधर उधर डोल रहे थे। थोड़े समय बाद आकाश निर्मल हो गया, बादल न जाने कहाँ अदृश्य हो गये। इस सहज घटना का चक्रवर्ती के मन पर एक मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ा। उसका चिन्तन एक नई दिशा की ओर मुड़ गया—बादल का कोई शत्रु नहीं, फिर भी वह नष्ट हो गया। फिर जिनके सभी शत्रु हैं, ऐसी सम्पत्तियों में विवेकी मनुष्य की श्रद्धा क्यों कर स्थिर रह सकती है। यह विचार कर चक्रवर्ती ने अनेक राजाओं के साथ जिन-दीक्षा लेली और तप द्वारा समस्त आस्रव का निरोध करके तथा सचित कर्मों की निर्जरा करके घातिया कर्मों का क्षय कर दिया। वे नौ केवल लब्धियों के स्वामी हो गये। अन्त में अघातिया कर्मों का नाश करके अजर, अमर, मुक्त हो गये।

नन्दिमित्र बलभद्र, दत्त नारायण और बलीन्द्र प्रतिनारायण

पूर्वभवा—भगवान मल्लिनाथ के तीर्थ में सातवे बलभद्र नन्दिमित्र और नारायण दत्त हुए। इससे पूर्वातीसरे भव की यह कथा है—

अयोध्या नगरी में एक राजा राज्य करता था। उसके दो पुत्र थे। किन्तु पिता इन दोनों से ही बहुत असन्तुष्ट था। इसलिए उसने अपने छोटे भाई को युवराज पद दे दिया। दोनों भाइयों को इससे बड़ा परित्याग

हुआ। किन्तु उन्होंने समझा कि पिता ने यह कार्य मन्त्री के द्वारा बरगलाने के कारण किया है, इसलिए वे मन्त्री पर क्रुपित हुए और अपना सारा क्रोध उसके ऊपर उतारा। तिरस्कृत होकर राज्य में रहना उन्होंने उचित नहीं समझा, अतः उन्होंने शिवगुप्त नामक मुनिराज के पास जाकर मुनि-दीक्षा ले ली। किन्तु छोटे भाई के मन से मन्त्री के प्रति द्वेष भाव नहीं निकल सका। उसने मन्त्री से बदला लेने का निदान बन्ध किया।

दोनों भाई दुर्धर तपश्चरण करने लगे। आयु के अन्त में समाधिमरण किया और सौधर्म स्वर्ग में देव हुए।

वाराणसी के राजा इक्ष्वाकुवशी अग्निशिख थे। वे बड़े धार्मिक विचारों के थे। उनकी दो रानियाँ थी—अपराजिता और केशवती। वे दोनों देव उन रानियों से क्रमशः नन्दिमित्र और दत्त नामक पुत्र हुए। नन्दिमित्र बड़ा था और दत्त छोटा। यद्यपि वे दोनों सीतेली माता के पुत्र थे किन्तु दोनों में प्रगाढ़ स्नेह था। बलभद्र, नारायण उनकी आयु बत्तीस हजार वर्ष की थी। उनका शरीर बाईस धनुष ऊँचा था। नन्दिमित्र और प्रतिनारायण श्वेत कुन्द के समान श्वेत वर्ण तथा दत्त इन्द्रनील मणि के समान नील वर्ण था। बचपन से ही दोनों बड़े तेजस्वी और साहसी थे। नन्दिमित्र स्वभाव से शान्त और दत्त उद्धत प्रकृति का था।

उपर्युक्त मन्त्री ससार भ्रमण करता हुआ विजयार्थ पर्वत के मन्दरपुर नगर के विद्याधरो का स्वामी बलीन्द्र हुआ। बलीन्द्र नाम से ही बलीन्द्र नहीं था, वास्तव में ही वह बलीन्द्र था। सम्पूर्ण राजा उससे भयभीत रहते थे। एक दिन उसने अपना दूत दोनों भाइयों के पास भेजा और कहा—महाराज बलीन्द्र ने आदेश दिया है कि तुम्हारे पास जो भद्रक्षीर गन्धगज है, उसे हमारे पास भेज दो। दोनों भाइयों ने दूत की बात सुनकर परिहास में कहा—अगर बलीन्द्र अपनी पुत्रियों का विवाह हमारे साथ कर दे तो हम उन्हें अपना गजराज दे देंगे। बिना ऐसा किये तो हम नहीं दे सकेंगे।' यह बात दूत ने जाकर जब बलीन्द्र से कही तो वह बड़ा क्रुपित हुआ। वह तो वास्तव में दोनों भाइयों के बढ़ते हुए प्रभाव से सशक्त था, इसलिए उन्हें मारने का काई बहाना ढूँढ़ रहा था। अपने आदेश का उल्लंघन होता देखकर वह सेना लेकर लड़ने के लिए तैयार हो गया।

तभी दक्षिण श्रेणी के सुरकान्तार नगर के स्वामी केशरीविक्रम नामक विद्याधर राजा ने दोनों कुमारों को सिंहवाहिनी और गरुडवाहिनी नामक दो विद्यायें सम्मेलनशिखर पर बुलाकर प्रदान की। यह राजा दत्त का माता केशवती का बड़ा भाई था। इस राजा ने दोनों कुमारों को सब प्रकार की सहायता देने का भी वचन दिया।

दोनों ओर की सेनायें आमने-सामने आकर डट गईं। दानों सेनाओं में लोमहर्षक युद्ध हुआ। बलीन्द्र का पुत्र शनवल नन्दिमित्र से जा भिड़ा। किन्तु नन्दिमित्र ने आनन-फानन में शतवलि का वध कर दिया। पुत्र की मृत्यु देखकर बलीन्द्र नेत्रों से अग्नि ज्वाला बरसाता नन्दिमित्र की ओर लपका। बलीन्द्र को बढ़ते देखकर दत्त आगे आ गया। दोनों का उस समय जो भयानक युद्ध हुआ, वह अद्भुत था। बलीन्द्र को अपने बल का बड़ा अभिमान था। आयु में भी वह दत्त से बड़ा था। किन्तु दत्त के समक्ष उसकी एक नहीं चल पा रही थी। तब भयकर क्रोध में भरकर बलीन्द्र ने अमोघ चक्र दत्त के ऊपर फेंका। देवाधिष्ठित चक्र प्रदक्षिणा देकर दत्त की दाहिनी भुजा पर आकर ठहर गया। तब दत्त ने वही चक्र बलीन्द्र के ऊपर चला दिया। मृत्यु को आते हुए देखकर बलीन्द्र भय के मारे घबड़ा गया। उसने प्रतिकार भी करना चाहा किन्तु चक्र के आगे उसकी एक नहीं चली और उसका शिर अलग जा पड़ा।

प्रतिनारायण बलीन्द्र को मारकर बलभद्र नन्दिमित्र और नारायण दत्त ने शत्रु सेना में अभय घोषणा कर दी। फिर बलभद्र, नारायण पुण्य से प्राप्त चक्र आदि की सहायता से भरत क्षेत्र के तीन खण्डों पर विजय प्राप्त कर अर्धचक्री बने। चिरकाल तक राज्य सुख भोगकर एक दिन अचानक नारायण की मृत्यु हो गई। भाई के शोक में नन्दिमित्र को वैराग्य हो गया। वे मुनि बनकर तप करने लगे। अन्त में केवली होकर उन्होंने मोक्ष प्राप्त किया।

एकविंश परिच्छेद

भगवान् मुनिसुव्रतनाथ

अगदेश के चम्पापुर नगर में हरिवर्मा नामक एक राजा राज्य करते थे। एक दिन नगर के बाह्य उद्यान में अनन्तवीर्य नामक निर्गन्ध मुनिराज पधारे। उनका आगमन सुनकर राजा अपने परिजनो-पुत्रजनों के साथ पूजा की नामगी लेकर दर्शनो के लिए गये। नहीं जाकर राजा ने मुनिराज की तीन प्रदक्षिणा दी, पूर्व भव तीन बार कन्या की ओर उनको पूजा की। फिर राय जोड़कर विनयपूर्वक मुनिराज से धर्म के स्वरूप की जिज्ञासा की। मुनिराज ने त्रिन्वारपूर्वक धर्म का स्वरूप समझाते हुए कल्याण का मार्ग बताया। उपदेश सुनकर महाराज हरिवर्मा को आत्म-कल्याण की अन्त प्रेरणा हुई। उन्होंने बड़े पुत्र को राज्य सौंप कर बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग करके जैनधर्म की दीक्षा ले ली। उन्होंने गुरु के चरणों में रहकर सार्वभौमिक अध्ययन किया और दर्शन विमुक्ति आदि मोक्ष कारण भावनाओं का चिन्तन कर तीर्थंकर नामकर्म का ग्रन्थ कर लिया। इन प्रकार चिरकाल तक नाना प्रकार के तप करके आत्म-विशुद्धि करते हुए अन्त में समाधिमरण करके प्राणतत्त्व के इन्द्र का पद प्राप्त किया।

जब उस इन्द्र की आयु छह माह हो गई, तब राजगृह नगर के स्वामी हरिवर्मा शिरोमणि काव्यपगात्री महाराज सुमित्र के घर में छह माह तक रत्नवर्षा हुई। जब इन्द्र की आयु पूर्ण होने वाली थी, तब महाराज सुमित्र की महारानी सोमा को श्रावण कृष्णा द्वितीया को श्रावण नक्षत्र में रात्रि के अन्तिम प्रहर में गर्भ कल्याणक तीर्थंकर प्रभु के गर्भाधिरण के सूक्त मोक्ष स्वप्न दिखाई दिये। स्वप्नो के अनन्तर उन्हें एक तेजस्वी गजराज मुग्ध में प्रवेश करता हुआ दिखाई दिया। उस इन्द्र का जीव तभी महारानी सोमा के गर्भ में अवतरित हुआ।

प्रातः काल होने पर स्नानादि से निवृत्त होकर महारानी हर्षित होती हुई महाराज के पास पहुँची और उन्हें रात्रि में देखे हुए स्वप्न कह सुनाये तथा उनसे इन स्वप्नो का फल पूछा। महाराज ने श्रावणज्ञान से फल जानकर महारानी को बताया—देवी! तुम्हारे तीन जगत के स्वामी तीर्थंकर प्रभु जन्म लेंगे। सुनकर महारानी को अपार हर्ष हुआ। तभी देवी ने आकर माता का अभिषेक किया और भगवान् का गर्भकल्याणक मनाया। सौधर्मन्द्र देवियों को माता की सेवा में नियुक्त करके देवी के साथ वापिस चला गया।

यथासमय तीर्थंकर प्रभु का जन्म हुआ। चारो जाति के इन्द्र और देव, इन्द्राणी और देवियाँ आई और भगवान् को मुमूर्शु पर्वत पर ले जाकर देवी ने उनका अभिषेक किया। सौधर्मन्द्र ने उस समय जन्म कल्याणक बालक का नाम मुनिसुव्रतनाथ रक्खा। उनका जन्म चिन्ह कछुआ था।

भगवान् की आयु तीस हजार वर्ष थी। शरीर की ऊँचाई बीस धनुष की थी। उनके शरीर का वर्ण मयूर के कण्ठ के समान नील था। वे एक हजार आठ लक्षणो और तीन जानो से युक्त थे।

जब कुमार काल के साठे सात हजार वर्ष व्यतीत हो गये, तब पिता ने उनका विवाह कर दिया तथा राज्याभिषेक करके राज्य-भार सौंप दिया। उन्होंने सुखपूर्वक साठे सात हजार वर्ष तक राज्य किया। एक दिन

आकाश मे घनघोर घटा छाई हुई थी। तभी उनकी गजशाला के अधिपति ने यह समाचार दीक्षा कल्याणक दिया कि प्रसिद्ध यागहस्ती ने आहार छोड़ दिया है। समाचार सुनकर भगवान चिन्तन मे लीन हो गये। किन्तु उपस्थित सभासदो को इस समाचार से बड़ा कुतूहल हुआ। उन्होंने भगवान से इसका कारण जानना चाहा। भगवान बोले—पूर्वभवं मे यह हाथी तालपुर नगर का स्वामी नरपति नाम का राजा था। यह बड़ा अभिमानी था। यह पात्र-अपात्र का भेद नहीं जानता था। इसने किमिच्छक दान दिया। इस कुदान के प्रभाव से इसे तिर्यच योनि प्राप्त हुई और यह हाथी बना।

जब भगवान सभासदो को हाथी का पूर्वभवं सुना रहे थे, उस समय हाथी वहाँ खड़ा हुआ यह सुन रहा था। सुनकर उसे जाति स्मरण ज्ञान हो गया। उसने उसी समय सयमासयम धारण कर लिया अर्थात् श्रावक के व्रत धारण कर लिए। भगवान के मन मे भी ससार से वैराग्य हो गया। उसी समय लौकान्तिक देवो ने आकर भगवान की वन्दना की और भगवान के विचारो की सराहना की। उन्होंने अपने पुत्र युवराज विजय को राज्य सौंप दिया। तभी देवो ने आकर भगवान का दीक्षाभिषेक किया। फिर वे मनुष्यो और देवताओ से उठाई हुई अपराजिता नामक पालकी मे बैठकर विपुल नामक उद्यान मे पहुँचे। वहाँ दो दिन के उपवास का नियम लेकर वैशाख कृष्णा दशमी के दिन श्रवण नक्षत्र मे सायंकाल के समय एक हजार राजाओ के साथ समस्त सावद्य से विरत होकर और सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग करके जिन-दीक्षा धारण करली। भगवान ने जो केशलुचन किया था, उन बालो को रत्न-मजूषा मे रखकर सौधर्म इन्द्र ने क्षीरसागर मे प्रवाहित कर दिया। दीक्षा लेते ही सयम और भाव-विशुद्धि के प्रभाव से भगवान को मन पर्यय ज्ञान उत्पन्न हो गया। दीक्षा लेकर वे ध्यानमग्न होगये। उपवास समाप्त होने पर वे पारणा के लिए राजगृह नगर मे पधारे और वहाँ वृषभदत्त राजा ने परमान्न भोजन से पारणा कराया। यद्यपि भगवान समभाव से तृप्त थे, उन्हे आहार की कोई आवश्यकता नहीं थी। किन्तु जिनशासन मे आचार की वृत्ति किस तरह है, यह बतलाने के लिए ही उन्होंने आहार ग्रहण किया था। आहार दान के प्रभाव से राजा वृषभदत्त देवकृत पचातिशयो को प्राप्त हुआ।

इस प्रकार तपश्चरण करते हुए छद्मस्थ अवस्था के जब ग्यारह माह व्यतीत हो गये, तब वे दीक्षा-वन मे पहुँचे और एक चम्पक वृक्ष के नीचे स्थित होकर दो दिन के उपवास का नियम लिया। शुक्ल ध्यान मे विराजमान भगवान को दीक्षा लेने के मास, पक्ष, नक्षत्र और तिथि मे अर्थात् वैशाख कृष्णा नवमी के दिन केवल ज्ञान कल्याणक श्रवण नक्षत्र मे सन्ध्या के समय घातिया कर्मो का क्षय करके केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। वे सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हो गये। तभी इन्द्रो और देवो ने आकर भगवान के केवलज्ञान कल्याणक का उत्सव किया और समवसरण की रचना की। उसमे विराजमान होकर भगवान ने गणधरो, देवो, मनुष्यो और तिर्यञ्चो को सागर और अनगर धर्म का उपदेश दिया, जिसे सुनकर अनेको ने सयम धारण किया, बहुतो ने श्रावक के व्रत ग्रहण किये और बहुत से भव्य प्राणियो ने सम्यग्दर्शन धारण किया, अनेको ने सम्यग्दर्शन मे निर्मलता प्राप्त की।

भगवान के सघ मे मल्लि आदि अठारह गणधर थे जो अपने अपने गणो की धर्म-रक्षा करते थे। ५०० द्वादशांग के वेत्ता, २१००० शिक्षक, १८०० अवधिज्ञानी, १८०० केवलज्ञानी, २२०० विक्रिया ऋद्धिधारी, १५०० मन पर्ययज्ञानी और १२०० वादी मुनि थे। इस प्रकार सब मिलाकर ३०००० मुनिराज उनके भगवान का चतुर्विध साथ थे। पुष्पदन्ता आदि ५०००० अजिकार्ये थे। १००००० श्रावक और ३००००० सघ श्राविकाये थी। उनके भक्त सख्यात तिर्यञ्च और असख्यात देव थे।

धर्म-देशना देते हुए भगवान मुनि-सघ के साथ विभिन्न देशो मे विहार करते रहे। जब उनकी आयु एक मास शेष रह गई, तब वे सम्मेद शिखर पर पहुँचे और एक हजार मुनियो के साथ प्रतिमा योग धारण कर योग निरोध कर लिया और फाल्गुन कृष्णा द्वादशी के दिन रात्रि के अन्तिम पहर मे समस्त निर्वाण कल्याणक घातिया कर्मो का क्षय करके निर्वाण प्राप्त किया, वे सिद्ध मुक्त हो गये।

उसी समय देवो और इन्द्रो ने आकर भगवान के निर्वाण कल्याणक की पूजा की।

यक्ष-यक्षिणी—भगवान के सेवक वरुण यक्ष और बहुरूपिणी यक्षिणी थे।

भगवान मुनिमुद्रतनाथ की जन्म-नगरी—राजगृही

जैनधर्म में राजगृही नगरी का एक विशिष्ट स्थान है। वह कल्याणक नगरी है, निर्वाण-भूमि है और भगवान महावीर के धर्म-चक्र-प्रवर्तन की भूमि है। धर्म-भूमि होने के साथ-साथ वह युगों तक राजनीति का केन्द्र भी रही है और भारत के अधिकांश भाग पर उसने प्रभावशाली शासन भी किया है। इसलिये उस नगरी ने इतिहास में निर्णायक भूमिका अदा की है।

— इस नगरी में भगवान मुनिमुद्रतनाथ के गर्भ, जन्म, तप और केवलज्ञान ये चार कल्याणक हुए थे।

— इस नगर के पाँच पर्वतों में वैभार, ऋषिगिरि, विपुलगिरि और वलाहक ये चार पर्वत सिद्धक्षेत्र रहे हैं। यहाँ से अनेक मुनियों ने निर्वाण प्राप्त किया है, जैसा कि आचार्य पूज्यपाद ने सस्कृत निर्वाण भक्ति में बताया है।

— राजपुर नरेश जीवन्धर कुमार भगवान महावीर में दीक्षा लेकर मुनि हो गये। वे भगवान के साथ विहार करते हुए विपुलाचल पर पधारे। जब पावा में भगवान महावीर का निर्वाण हो गया, उसके कुछ काल पश्चात् मुनि जीवन्धर कुमार भी विपुलाचल में मुक्त हो गये।

— भगवान महावीर के सभी गणधर विपुलाचल से ही मुक्त हुए।

— अन्तिम केवली जम्बू स्वामी का निर्वाण भी विपुलाचल से ही हुआ, ऐसी भी मान्यता है।

— उज्जयिनी नरेश धृतिपेण (मुनि अवस्था का नाम काल सन्दीप), पाटलिपुत्र नरेश वंशाख, विद्युच्चर, गन्धमादन आदि अनेक मुनियों ने राजगृह के इन्हीं पर्वतों से मुक्ति प्राप्त की थी।

— भगवान महावीर को ऋजुकूला नदी के तट पर वंशाख गुवला दममी की केवलज्ञान हुआ था। देवों ने तत्काल समवसरण की रचना की। किन्तु गणधर न होने के कारण भगवान की दिव्य ध्वनि नहीं खिरी। तब इन्द्र वेप बदलकर इन्द्रभूति गौतम के पास पहुँचा और किसी उपाय में उन्हें भगवान के समवसरण में ले गया। गौतम भगवान के चरणों में पहुँच कर अभिमान रहित होकर मुनि बन गये। तभी विपुलाचल पर श्रावण कृष्णा प्रतिपदा को भगवान की प्रथम दिव्य ध्वनि खिरी और धर्म-चक्र-प्रवर्तन हुआ। इस समय अन्तिम तीर्थंकर महावीर का धर्म-शासन प्रवर्त रहा है, इसलिये उनके शासन के अनुयायियों के लिए न केवल इस प्रथम दिव्य ध्वनि का, अपितु विपुलाचल का भी विशेष महत्त्व है। इस बात से विपुलाचल का महत्त्व जैन शासन में कितना हो गया, इसका मूल्याङ्कन करने के लिए यहाँ एक ही बात का उल्लेख करना पर्याप्त होगा। पौराणिक साहित्य में किसी कथा के प्रारम्भ में कहा जाता है—‘विपुलाचल पर भगवान महावीर का समवसरण आया हुआ था। मगध नरेश श्रेणिक विम्बसार भगवान के दर्शनो के लिए पहुँचे। उन्होंने भगवान की वन्दना की और अपने उचित स्थान पर बैठ गये। फिर उन्होंने गौतम गणधर से जिज्ञासा की। तब गौतम गणधर बोले।’ इस प्रकार प्रत्येक प्रसंग का प्रारम्भ होता है। गौतम गणधर से प्रश्न अकेले श्रेणिक महाराज ने ही नहीं पूछे थे, और भी अनेक व्यक्तियों ने पूछे थे। उनसे केवल विपुलाचल पर ही प्रश्न नहीं पूछे गये थे, अन्य स्थानों पर भी पूछ गये थे। किन्तु दिगम्बर परम्परा में कथा कहने की एक अपनी शैली रही है और उस शैली में विपुलाचल को विशेष महत्ता दी गई है। संभवतः इसका कारण यही रहा है कि इन्द्रभूति गौतम जैसे प्रकाण्ड विद्वान् का गर्व यही आकर गलित हुआ, यही उन्होंने मुनि-दीक्षा ली और फिर यही भगवान की प्रथम धर्म-देशना हुई, जिससे धर्म का विच्छिन्न तीर्थ पुनः प्रवर्तित हुआ। यह कोई सामान्य घटना नहीं थी। किसी धर्म के इतिहास में यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना है।

— मुनि सुकौशल और मुनि सिद्धार्थ (सुकौशल के पिता) को राजगृह के पर्वत से पारणा के लिए नगर को जाते हुए मार्ग में व्याघ्रौ (सुकौशल की पूर्व भव में माता जयावती) ने मार डाला। दोनों मुनि समता भाव से मरे और सर्वार्थसिद्धि विमान में अहमिन्द्र हुए।

राजगृह पर यद्यपि शताब्दियों तक हरिवंशी नरेशों का शासन रहा, किन्तु उसकी प्रसिद्धि सर्वप्रथम

जरासन्ध के काल में हुई। वह बड़ा प्रतापी नरेश था। उसने बाहुबल द्वारा भरतक्षेत्र के आधे मगध साम्राज्य की भाग पर अधिकार कर लिया था। मथुरा नरेश कस उसका दामाद और माण्डनिक राजा राजधानी के रूप में था। वह बड़ा क्रूर और अहकारी था। श्रीकृष्ण ने उसे मारकर प्रजा को उसके अन्याय-अत्याचारों से मुक्त किया।

किन्तु उससे यादव लोग सम्राट् जरासन्ध के कोप के शिकार हुए। उसने सत्रह बार मथुरा के यादवों पर आक्रमण किये। इन रोज-रोज के आक्रमणों से परेशान होकर और शक्ति संचित करने के लिए श्रीकृष्ण के नेतृत्व में यादवों ने मथुरा, शौर्यपुर और वीर्यपुर को छोड़ दिया और पश्चिम में जाकर समुद्र के मध्य में द्वारका बसाकर रहने लगे।

कुछ समय पश्चात् कुरुक्षेत्र के मैदान में जरासन्ध और यादवों का निर्णायक युद्ध हुआ। उसमें श्रीकृष्ण ने जरासन्ध को मार दिया और वे अर्धचक्री नारायण बने। नारायण श्रीकृष्ण ने अपनी राजधानी द्वारका को ही रखा। इससे राजगृह—जो उस समय गिरिद्वज कहलाती था—का महत्व कम हो गया।

इसके पश्चात् राजगृह का राजनीतिक महत्व शिशुनागवंश सम्राट् श्रेणिक बिम्बसार के काल में बढ़ा। श्रेणिक ने राजगृह को ही अपनी राजधानी बनाया। उसका शासन-काल ई० पू० ६०१ से ५५२ माना जाता है। श्रेणिक के शासन-काल में मगध साम्राज्य उत्तरी भारत का सर्वाधिक शक्तिशाली राज्य माना जाता था।

श्रेणिक प्रारम्भ में म० बुद्ध का अनुयायी था, किन्तु बाद में वह भगवान महावीर का अनुयायी बन गया।

श्रेणिक के पश्चात् अजातशत्रु राजगृही का शासक बन गया। उसने अपने वृद्ध पिता को कारागार में डालकर बलात् शासन हथिया लिया। उसने अनेक राज्यों को जीतकर उन्हें अपने राज्य में मिला लिया। वैशाली और मल्ल गणसंघों का विनाश उसी ने किया। उसके राज्य-काल के प्रारम्भ के वर्षों में राजगृह मगध साम्राज्य की राजधानी रही। किन्तु बाद में उसने चम्पा को अपनी राजधानी बना लिया। उसके बाद उसके पुत्र उदयि ने पाटलिपुत्र नगर बसाकर उसे अपनी राजधानी बनाया। इसके बाद राजगृह कभी अपने पूर्व गौरव को प्राप्त नहीं कर सकी।

आजकल राजगृह नगर एक साधारण कस्बा है। उसका महत्व तीर्थ के रूप में है। जैन लोग राजगृह के विपुलाचल, रत्नागिरि, उदयगिरि, अवणगिरि और वैभारगिरि को अपना तीर्थ मानते हैं। उन्हें पंचपहाड़ी भी कहा जाता है। बौद्ध लोग गृद्धकूट पर्वत को अपना तीर्थ मानते हैं तथा सप्तपर्णी गुफा में प्रथम वर्तमान राजगृह बौद्ध संगीति हुई थी, ऐसा माना जाता है।

यहाँ सोनभण्डार गुफा, मनियारमठ, बिम्बसार बन्दीगृह, जरासन्ध का अखाड़ा और प्राचीन किले के अवशेष दर्शनीय हैं। यहाँ गर्म जल के स्रोत हैं, जिनका जल अत्यन्त स्वास्थ्यकर है।

बलभद्र राम, नारायण लक्ष्मण और प्रतिनारायण रावण—

मगध देश में रत्नपुर नामक नगर था। उसमें अजापति राजा राज्य करते थे। उनकी पत्नी का नाम गुणकान्ता था। उनके चन्द्रचूल नामक एक पुत्र था। महाराज के मन्त्री के पुत्र का नाम विजय था। चन्द्रचूल

पूर्व भव मे
निदान बन्ध

और विजय दोनों में परस्पर में बड़ा प्रेम था। दोनों ही अत्यन्त लाडप्यार में पले थे इसलिये वे दोनों दुराचारी हो गये। उस नगर के सेठ कुबेर ने अपनी कुबेरदत्ता पुत्री को वैश्रवण सेठ की गौतमा स्त्री से उत्पन्न कुमार श्रीदत्त के लिये देने का सकल्प किया। तभी किमी ने जाकर राजकुमार चन्द्रचूल से कुबेरदत्ता के रूप मोन्दर्य की प्रशंसा की। सुनते ही चन्द्रचूल अपने साथी विजय को लेकर सेठ कुबेर के घर जा धमका और कुबेरदत्ता का बलात् अपहरण करने का प्रयत्न करने लगा। यह अनर्थ देखकर वैश्य लोग रोते चिल्लाते हुए महाराज के पास पहुँचे और उनसे जाकर फरियाद की। राजा तो अपने पुत्र के इस अनाचार को देगहर बड़ा क्रोध आया। उन्होंने नगर रक्षक को बुलाकर उसे राजकुमार का बध करने की आज्ञा दी। नगर-रक्षक कुछ सैनिकों को लेकर राजकुमार को बन्दी बनाने गया और बन्दी दशा में उसे महाराज के समक्ष लाकर गड़ा कर दिया। उसे देखते ही राजा ने राजकुमार को शूली का दण्ड दे दिया। नगर रक्षक राजकुमार को शूली पर चढ़ाने के लिये ले चला। तभी प्रधान मन्त्री प्रमुख नागरिकों को आगे करके महाराज के निकट आया और हाथ जोड़कर निवेदन करने लगा—‘देव ! राजकुमार को कार्य अकार्य का विवेक नहीं है। हम लोगों का प्रमाद रहा कि बाल्यकाल में उसकी ओर ध्यान नहीं दिया। यह आपका एकमात्र बगधर और राज्य का भारी उत्तराधिकारी है। दण्ड का उद्देश्य तो व्यक्ति का सुधार है। यदि राज्य के इस एकमात्र कुमार को आपने शूली देदी तो उसका सुधार तो होगा नहीं, आपका बग भी निर्मूल हो जायेगा। अतः आप इसे सुधारने का एक अवसर अवश्य दीजिये। किन्तु राजा ने उनकी एक नहीं सुनी। वे अपने निर्णय पर अटल रहे। तब प्रधान मन्त्री ने कहा—‘देव की जैमी आज्ञा। किन्तु इसको मैं स्वयं दण्ड दूँगा। राजा ने इस बात की स्वीकृति दे दी।

प्रधानाभात्य अपने पुत्र विजय और राजकुमार चन्द्रचूल को लेकर पर्वत पर पहुँचा और राजकुमार को यहाँ पर्वत पर लाने का उद्देश्य भी बता दिया। राजकुमार बड़ी निर्भयता से मृत्यु दण्ड पाने के लिये तैयार हो गया। तभी मन्त्री को पता चला कि यहाँ निकट ही महाबल नामक गणधर विराजमान है। मन्त्री दोनों को लेकर मुनिराज के समीप पहुँचा, उनकी बन्दना की और उन दोनों का भविष्य पूछा। मुनिराज बोले—‘ये दोनों ही तासरे भव में इसी भरत क्षेत्र में नारायण और बलभद्र होंगे।’ सुनकर मन्त्री बड़ा प्रसन्न हुआ। उन दोनों कुमारों ने भी मुनिराज का उपदेश मुना तो उन्हें अपने कृत्यों पर भारी ग्लानि हुई और उन्होंने मुनि-दीक्षा ले ली।

मन्त्री ने महाराज के पास लौटकर पूरा वृत्तान्त सुना दिया और अन्त में निवेदन किया—‘महाराज ! वे दोनों सुधार के मार्ग पर लग गये हैं। उनके लिये दण्ड का उद्देश्य पूरा हो गया। राजा ने सब बात सुनकर मन्त्री की बड़ी प्रशंसा की। किन्तु इस घटना से उसे भी राज्य से विरक्ति हो गई। वह अपने कुल के किसी योग्य पुत्र को राज्य सौंप कर इन्हीं गणधर महाराज के निकट पहुँचा। वहाँ दोनों नवदीक्षित कुमारों को मुनि अवस्था में देखकर उसने दोनों से क्षमा-याचना की। वे दोनों बोले—‘आपने हमारा बड़ा हित किया। यह समय आपकी बढौलत ही हम लोगों ने ग्रहण किया है।

राजा ने भी अनेक व्यक्तियों के साथ सम्पूर्ण आरम्भ-परिग्रह का त्याग कर समय अंगीकार कर लिया और कठोर आभ्यन्तर वाह्य तपो का आचरण कर कुछ काल में ही घातिया कर्मों का नाश कर सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन गये और अन्त में शेष अघातिया कर्मों का क्षय कर वे सिद्धालय में जा विराजे।

एक समय वे दोनों मुनिराज खडगपुर नगर के बाहर आतापन योग धारण कर ध्यानारूढ़ थे। उस नगर के राजा सोमप्रभ की सुदर्शना और सीता नाम की दो रानियाँ थी, जिनके क्रमशः सुप्रभ और पुरुषोत्तम नामक पुत्र थे। सुप्रभ बलभद्र थे और पुरुषोत्तम नारायण थे। जिस समय वे दोनों मुनि ध्यान लगाये हुए खड़े थे, उस समय पुरुषोत्तम नारायण मधुसूदन प्रतिनारायण का बध करके बड़े वैभव के साथ नगर में प्रवेश कर रहा था। उसकी विभूति को देखकर चन्द्रचूल मुनि ने अज्ञानवश वैसी ही विभूति का निदान कर लिया। अन्त में चारों प्रकार के आहार का त्याग कर दोनों ने चारों आराधनाओं का सेवन किया। वे मरकर सनत्कुमार स्वर्ग में विजय और मणिचूल नामक देव हुए।